Library IIAS, Shimla
S 294.143 2 V 24 I
00009193

* श्रीहरिर्जयति *

दैवजीवोद्धार-परायणाचार्य-चक्रचूडामणि
जगद्गुरु-श्रीमद्वल्लभाचार्य-प्रतिपादित
शु० सिद्धान्त-प्रकाशनपरया
'मनस्विनी' समाख्यया
व्याख्यया संवलिता

# ईशावास्योपनिषद्

व्याख्याता-
पो० श्रीबालकृष्ण शास्त्री
विद्यानिधिः

साच
...स्वामि-कुल-कमल-दिवाकर-विद्यानिधि श्री १०८
...लालजी-महाराजानां निर्देशेन प्रबन्धबलेन च
...लकृष्ण शु. महासभा-सूरत कार्यालयातः
प्रकाशिता
वि० सं० २०१०

S
294.143 2
V 24 I

V. P. K.

प्रकाशकः—

**श्री चिमनलाल शास्त्री**

सा. शु. व्या. स. म.

—※—

मन्त्री

**श्रीबालकृष्ण-शुद्धाद्वैत-महासभा**

सूरत

सम्पादक—

ग्रन्थ कर्तुरात्मजः

**प्रो० कण्ठमणि शास्त्री विशारद**

का. शु. म.

कांकरोली

मुद्रकः—

**श्री लक्ष्मण शास्त्री सांचोहर**

* श्री विट्ठलनाथ प्रिंटिंग प्रेस *

कोटा ( राजस्थान )

प्रथम संस्करण ५०० | वि० संवत् २०१० | मूल्यम् १॥)

## श्रीबालकृष्णो विजयते

—)-:o:-(—

विदितमेतद्विचक्षणैः साक्षरैर्यत् "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति भगवद्वचनं साकारब्रह्मवादैकस्थापक- वेदपारग- श्रीमदाचार्य चरण-प्रकटित शुद्धाद्वैत-राद्धान्तेनैव सफलीभवति । तदिदं सिद्धान्त-जातं विद्वच्छिरोमणिभिः पो० श्रीबालकृष्णशास्त्रिभिः- "ईशावास्योपनिषदो मनस्विनी-समाख्यया व्याख्यया" सनिपुणं प्रत्यपादि ।

पञ्चदशवर्षेभ्यः पूर्वं 'काशीस्थ गवर्नमेन्ट-संस्कृत कालेज-परीक्षायाँ श्रीवल्लभवेदान्त-ग्रन्था मदीयेन महताऽऽयासेनोररीकृताः तदानीमभ्यासक्रमे मुख्या दशोपनिषदः स्वस्वमार्गीय व्याख्यया साकं नियता आसन् । शु० वेदान्त-परीक्षा-दित्सूनां परीक्ष्याणां कृते महत्कष्ट मासीत्-उपनिषदां स्वमार्गीय टीकाभाष्यादीनामभावात् । परं सं० २००२ मिते वैक्रमे वर्षे 'ईशावास्योपरि बालभाष्यमाभाषितं श्रीवल्लभद्रशर्मभिः पण्डितप्रकाण्डैः ।

ततः कङ्करपल्ली नगरे श्रीबालकृष्णशास्त्रि-तनुजनुषः पो. श्रीकण्ठमणि शास्त्रिणः सन्निवासे चैषा 'मनस्विनी व्याख्या' समदर्शि सुमनसां मनस्तोषजननी-सैषा व्याख्या शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय-हार्दज्ञानाय महदुपकरिष्यतीति सम्मुद्रय प्रकाशनाज्ञापितं गो. श्री १०८ श्री विद्यानिधि श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजैः ।

साद्य साम्प्रतिकानां परीक्ष्याणामेवमेतद्विषयकाध्येतृणामध्याप कानां चान्येषां शुद्धवेदाशय-बुभुत्सावतां करकमलेषु निवेदन-समये मोदतेऽस्माकं चेतः । इति शम्

ज्येष्ठाभिषेकोत्सवः

सं० २०११

निवेदकः- श्रीवल्लभ-पदपद्म-पराग-लोलुपः
चिमनलाल शास्त्री सा.शु.सं. व्या.
उपाध्यक्षः- श्री वा. शु. महासभा, सूरत.

C... ..OGUEL

INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
9193
26.3.66
SIMLA
2/1
S
294.1432
V24I
Library IIAS, Shimla
S 294.143 2 V 24 I
00009193

# सम्पादकीय

शु० सम्प्रदाय में वैदिक साहित्य पर विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है, और इसका एक मात्र कारण निगमकल्पतरु के गलित फल श्रीभागवत की विस्तृत सर्वांगपूर्ण विवेचना ही है- जिसपर प्रारंभ से लेकर अद्यावधि वहुत कुछ लिखा और विवेचन किया गया है।

यह तो सर्वविदित है कि-प्रस्तुत उपनिषद् यजुर्वेद संहिता का अन्तिम अध्याय है। पूर्व के उनचालीस अध्यायों में वैदिक यज्ञ याग स्वरूप कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है- और अन्तिम ४० वें अध्याय में १८ मन्त्रों से प्रस्तुत उपनिषद् संगृहीत है। प्रथम मन्त्र में 'ईशावास्य' शब्द आने के कारण इसकी संज्ञा 'ईशावास्य' हुई है।

जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण ने उपनिषदों के साररूप गीता में 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' मत्कर्मकृन्मत्परमः, 'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्म चेतसा' आदि के द्वारा कर्मकाण्ड की यथावत् उपयोगिता का प्रतिपादन किया है, समस्त कर्मों का समर्पण प्रभुप्रीत्यर्थ होना अपेक्षित है- और तभी वे बन्धन स्वरूप नहीं होते हैं- अतः यजुर्वेद प्रतिपादित कर्मकाण्ड के अनन्तर इस प्रकार के परिज्ञान से ईश्वरार्पण, एवं तत्प्रसाद रूपेण निर्वाह करने की भावना अपेक्षित थी जो- भगवन्निश्वासरूप प्रस्तुत उपनिषद् के रूप में जगत् के सन्मुख स्वयं आविर्भूत हुई हैं।

उपनिषद्-साहित्य के मूर्धन्य 'ईशावास्य' उपनिषद् पर कई आचार्यों, विद्वानों ने भाष्यटीकाएँ विरचित की हैं। जिनमें उसके वास्तविक रहस्य की अपेक्षा स्वकीय मत की अधिकांश अभिव्यक्ति की गई है। किसी ने कर्मकाण्ड की सारहीनता बताकर ज्ञान-काण्ड की विजय पताका फहराई है तो किसी ने भक्ति का उद्घोष कर कर्म ज्ञान दोनों को अलग उठाकर रखदिया है। जो प्रस्थान-चतुष्टयी की समन्वय पद्धति के सर्वथा विपरीत है। अस्तु। आवश्यकता थी कि समस्त उपनिषदों का इसी दृष्टि कोण से विवरण उपस्थित किया जाता। एतदर्थ

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के कतिपय विद्वानों ने यथावकाश, यथावश्यकता एवं यथारुचि कुछ उपनिषदों पर विवेचनाएँ प्रस्तुत की जिनमें अधिकांश प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु 'ईशावास्योपनिषद्' पर कोई प्राचीन व्याख्या समुपलब्ध नहीं हुई। जो एक अभाव था।

इस ओर श्रद्धेय, विद्यावारिधि, पितृचरण स्व. श्रीबालकृष्ण शास्त्री जी ने प्रयास किया। कोटा में श्री १०८ श्रीरणछोडलालजी महाराज की सेवामें निवास करते हुए उन्होने इस की 'मनस्विनी' नामक व्याख्या लिखी, और 'केन' उपनिषद् की भी इसी नाम की व्याख्या का प्रणयन किया।

सं० १९५० के लगभग प्रकाण्ड पण्डित भारत-मार्तण्ड पं० श्रीगट्टूलालाजी का कोटा में पदार्पण हुआ। मेरे पितृचरण द्वारा मुझे विदित हुआ था कि-उन्होने उपनिषद् की इन दोनों व्याख्याओं को श्रीगट्टूलालाजी को सुनाया था, जिसपर अतिशय आल्हादित होकर उन्होने प्रशंसा की और कुछ सुझाव दिये थे।

इस प्रकार सं० १९५० के लगभग इस व्याख्या की रचना हुई।" जबकि व्याख्याकार की आयु लग-भग २८, ३० वर्ष की थी इस वृत्त के साथ मुझे यह भी परिज्ञात हुआ था कि–इन दो प्रारंभिक उपनिषदों की व्याख्या को देखकर ही भारतमार्तण्ड ने इनपर टीका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी और 'कठोपनिषद्' पर व्याख्या का प्रणयन किया जो दुर्भाग्यतः अपूर्ण रह गई। सं० १९५३ में वे नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये।

इस प्रकार पूर्व रचना के अनन्तर ईशावास्य की यह व्याख्या वेष्टन-वेष्टित ही रहगई। कार्य-व्यासक्ति, परिभ्रमण, और अध्यापन-बाहुल्य के कारण पितृचरण को इसे पुनः अवलोकित करने का अवसर नहीं मिला। सौभाग्यतः सं. १९७५ के लगभग उनको नाथद्वारा निवास का सौकर्य मिला, जहाँ नित्यलीलास्थ गोस्वामि तिलक श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज ने संस्कृत विद्यालय का भार उनको सौंपा। इस समय पुनः 'ईशावास्योपनिषद्' की व्याख्या आदि ग्रन्थों का पुनरवलोकन और संशोधन किया गया जिसमें

उनके प्रौढ परिपक्व ज्ञान से और भी अधिक विकास आसका है। इसी समय पितृचरण ने अन्य कई ग्रन्थों की रचना की।

शु० सम्प्रदाय में 'ईशावास्योपनिषद्' पर सर्वप्रथम व्याख्या करने का श्रेय प्रस्तुत व्याख्या-कार को ही प्राप्त है। यह एक विचारणीय प्रसंग है कि-प्रस्तुत सम्बन्ध के साहित्य-प्रकाशन में सर्वप्रथम रचना सबके अन्त में विद्वत्समाज के सम्मुख आरही है-इसका एक मात्र कारण साम्प्रदायिकों की तद्विषयक विरक्ति ही है। अन्य व्याख्याताओं ने जहाँ स्वकीय रचनाओं को स्वयं प्रचारित कर अर्थ-साहाय्य द्वारा प्रकाशित करने का प्रयत्न किया वहाँ 'मनस्विनी' व्याख्याकार स्वकीय मनस्विता के कारण इस ओर से उदासीन ही रहे, और यही कारण है कि-स्वर्गीय श्रीभारतमार्तण्ड के अनन्तर मनीषिवर्ग में सब से अधिक शु० सा० साहित्य का निर्माण करने वाले प्रकाण्ड विद्वान् की ग्रन्थ-रचना के सम्बन्ध में प्रायः सभी अपरिचित हैं और उनका सार्वदेशिक लिखित साहित्य सर्वांशरूप में अभी तक अप्रकाशित पड़ा हुआ है *।

इन पंक्तियों के लेखक को विधि-विडम्बनावश छात्रावस्था के अतिरिक्त ऐसा संयोग बहुत स्वल्प मिला जब वह स्व० गुरुवर्य के चरणों में बैठकर उनके रचित साहित्य का अवलोकन और सम्पादन कर सकता, प्रमाद में ही सं० १९८१ से ९७ तक का समय निकल गया और पितृ-चरण सहसा दिवंगत हो गये। हताश होकर परोक्ष सेवा-सौभाग्य के लिये उनके लिखित ग्रन्थों का संचय कर समस्त ग्रन्थों की विषय सूची सन्नद्ध की गई जिसके परिणाम-स्वरूप 'ईशावास्योपनिषद्' की मनस्विनी व्याख्या का सम्पादन सम्पन्न हुआ और सौभाग्यवश गुणग्राही विद्यानिधि आचार्य श्री बृजरत्नलालजी महाराज [ सूरत ] ने दृष्टिपथ में निकाल

---

* पो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रि-विरचित साहित्य की सूची प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी जीवनी में दी जारही है। उनका स्वहस्त लिखित साम्प्रदायिक रचनात्मक साहित्य ४२ जिल्दों में विद्यमान है- जो प्रकाशन की बाट देखता हुआ भी 'कस्मान्नव्रजन्ति कवयो घनधुर्मदान्धान्' की ओर इंगित करता है।

कर सोत्साह प्रकाशित करने को अर्थसाहाय्य प्रदान किया। इस अकारण करुणा के कारण हृदय में जहाँ शीतलता हुई वहाँ स्वनामधन्य उक्त महानुभावों के प्रति श्रद्धा और विश्वास के अंकुर पल्लवित एवं पुष्पित हुए जो आज प्रस्तुत सम्पादन द्वारा उन्ही की सेवा में निष्काम भाव से समर्पित किये जा रहे हैं।

ईशावास्योपनिषद् की व्याख्या के रूप में शु० स० में निम्नलिखित विद्वत्प्रयास हुए हैं जो प्रकाशित होचुके हैं। वे है:—

( १ ) ईशावास्योपनिषद् भावार्थ-बोधिनी टीका।
श्रीमोहनलाल काशीराम शास्त्री द्वारा प्रणीत।
श्रीजेठालाल गोवर्धनदास शाह एम. ए. द्वारा गुर्जर भाषा में अनूदित। सं० १९८३ में प्रकाशित।

( २ ) ईशावास्योपनिषद्-बालभाष्य।
पं० भट्ट श्री वल्लभद्रशर्मा क. का. शु. म. द्वारा रचित
सं० २००२ में प्रकाशित।

( ३ ) ईशावास्योपनिषद्-पुष्टिमार्ग प्रपा व्याख्या।
पं० श्री सबलकिशोर चतुर्वेद द्वारा रचित।
पं० रघुनाथ प्रसाद चतुर्वेद द्वारा हिन्दी भाषा में अनूदित। सं० २०१० में प्रकाशित।

( ४ ) ईशावास्योपनिषद्- मनस्विनी व्याख्या।
पो० श्रीबालकृष्णशास्त्रि-रचित।
[ पो० कण्ठमणिशास्त्रि-रचित हिन्दी भाषान्तर प्रकाशन सापेक्ष ]
सं० २०११ में प्रस्तुत प्रकाशन।

प्रस्तुत व्याख्या चतुष्टयी में तरतमभाव द्वारा आलोचना करना सुधी-समाज का मनोविनोद है- व्याख्याताओं एवं अध्ययनशील कोविदों की दृष्टि से सभी उपादेय एवं भूषण स्वरूप हैं— पर इस तुच्छ-दृष्टि सम्पादक की दृष्टि से 'मनस्विनी' व्याख्या में अनुबन्ध चतुष्टय एवं

पञ्चाङ्ग अधिकरणरूप में जो मौलिकता परिलक्षित होती है- वह उसका स्वकीय सम्बन्ध का आग्रह भी होसकता है- पर वह न तो मूढाग्रह है न दुराग्रह यह निश्चित है । अत्र विद्वाँसः प्रमाणम् । अस्तु

यथातथा पितृचरण की सेवा समुपलब्धि के रूप में यथाबुद्धि प्रस्तुत व्याख्या का सम्पादन, विद्वद्वर्ग के समक्ष समुपस्थित किया जाता है- इस प्रयास में माननीय मित्रवर्य श्रीजगन्नाथ शास्त्री जी [ प्रतापगढ निवासी ] ने जिस निर्व्याज भाव से संशोधनादि कार्य में श्रम किया है तदर्थ हार्दिक कृतज्ञता के अतिरिक्त और क्या प्रदर्शित किया जा सकता है ?

मुद्रण सम्बन्ध में श्रीमान्य मित्र पं० लक्ष्मणशास्त्री जी [ कोटा ] ने अत्यधिक सौकर्य प्रदान किया है, जिनका उपकार भी स्मरणीय है। प्रेस की दूरी, दृष्टि-दोष, एवं अनवधानता के कारण प्रकाशन में कई अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ रहगई हैं- जिन्हे अब विज्ञ-समाज ही सुधार सकता है- तदपि भविष्य में यदि द्वि. संस्करण का अवसर आया तो उसे ध्यानावस्थित रखा जायगा । अस्तु

श्रीकरुणावरुणालय श्रीवल्लभाधीश प्रभु हमें अत्यधिक प्रेरणा प्रदान करें जिससे शु. सम्प्रदाय की कुछ साहित्य-सेवा होसकै और इसी प्रकार के अन्य कई ग्रन्थ प्रकाश में आसकें । इतिशम्

विधेयः— पो० कण्ठमणिशास्त्री

ज्येष्ठाभिषकोत्सव सं० २०११

संचालक-विद्याविभाग

कांकरोली

——:o:——

श्रीकृष्णः ।

निबन्ध कर्तृणां परिचयः

# श्रद्धेयाः श्रीबालकृष्ण शास्त्रिचरणाः

—*—

आसीत्पुराऽऽन्ध्रजनपदाभिजनस्तैलङ्गाख्यया ख्यायमानः श्रीवत्स-गोत्रः सप्ततन्तुषु पञ्च प्रवृण्वन्, त्रय्यां च प्रथमां समामनन् शाकल शाखाध्यायी धरा-सुपर्वणां कश्चन 'पोतकूचिवाडू' नाम्ना प्रथमायमानः शास्त्रिवंशः । यत्र साम्प्रतिकसमुपलब्धैतिह्य गणनया संख्याक्रमेण कनिष्ठामधितिष्ठन्, पण्डितराजेति विद्वद्भिः सभाजितो माधवोनाम विद्वत्तल्लजो बभूव ।

श्रीहरेर्निरवग्रहेणानुग्रहेण परिगृहीतेऽस्मिन्नन्ववाये माधवप्रतिमा नाना विपश्चिदपश्चिमाः प्रादुरासन्, येषां गणनातिगाभिः सूरिस्पृहणीयाभिः सत्कृतिभिः संस्कृतसाहित्यस्य यशश्चिरायाखर्व-गर्वं स्थास्यति। साहित्य-जीवातुरूपाया आर्यासप्तशत्याः प्रणेता गोवर्धनाचार्यः, गीता-भाष्यस्य निर्माता श्रीमधुसूदनः कविपण्डितः, संगीतदर्पणस्य हरिवल्लभ सुधोदयस्य च रचयिता हरिवल्लभशास्त्री, एवंविधा बहवो विद्वद्धौरेयाः स्वगुणगरिम्णेममन्ववायमलञ्चक्रुः । यथा चैतद्वंशमणिः कविवरः 'रसिकरसाल' ग्रन्थ-निर्माता कुमारमणिः । स्वग्रथित-' रसिक-रंजन '-सप्तशत्यां समुल्लिखति—

"माधव पण्डितराजं, रुद्रणशिष्टं, मनीषिवल्लभद्रम्  
मधुसूदन कविपण्डित-मुख्यान्प्र-णमामि पूर्वभवान्"  
"हरिवंशजं चतुर्भुजपौत्रं बुधरुद्रणस्य नप्तारम्  
श्रीमत्पितामहमहं कण्ठमणिं नौमि महितगुणम्"  
"पितुरग्रयं सह पित्रा नत्वा निरवद्यविद्यवेदमणिम्  
विरचयति सूक्ति-संग्रहमान्ध्र-कुलीनः कुमारकविः"

परतोऽपि 'भगवन्माधुर्यकल्पद्रुमस्य कर्ता नारायणशास्त्री, जयेन्द्र-कल्पवृत्त-विनयपत्रिका-भाषा व्याख्यादि-कतिपयनिबन्धानां-निबन्धा बिहारी-लालशास्त्री, एवंविधा विद्वांसः प्रादुरभवन् ।

श्रीशुद्धाद्वैत-सम्प्रदायाचार्याणां श्रीवल्लभदीक्षितानां तदात्मजानां श्रीविट्ठलदीक्षितानां च परिचयात्, कालस्थान-विरोधिभिरन्यैश्च हेतु-भिस्तैलङ्गा भूसुरा दक्षिणदेशं विरहय्य विन्ध्यादुत्तरत्र स्वानुकूलासु राजन्वतीषु महीषु वसतीररोचयन् । परतरेऽनेहस्यैव वत्सवंशस्य कतिपये विद्वांसो बुन्देलखण्डे, गढामण्डला' राज्ये च निवासं चक्रुः ।

कुमारमणिशास्त्रिणः प्रप्रपौत्रो भोजराजशास्त्रिणः प्रपौत्रो नारायण शास्त्रिणःपौत्रः केशवरायशास्त्रिण स्तनूजो बिहारिलालशास्त्री बुन्देलखण्डा-न्तर्गत-बानपुर-राज्ये राजपण्डित-पदवीमधिभूषयन्सपरिकरस्तत्रैव सन्मा-नपुरःसरं निवासमकरोत् । भारतीयस्वातन्त्र्य-संग्राम-समये [सन् १८५७] विलय दशामुपयाते बानपुर-राज्ये ग्रन्थ-संग्रहस्वापतेयादि सर्वस्वमपहाय कुटुम्बेन सह कृच्छ्रेण दतियाराजधान्यां प्राप्तस्तत्रैव कविवरेण गदाधरश-र्मणा सभाजितो राजपंडित पदवीमलंचक्रे । अस्यात्मजेष्वन्यतम मुकुन्द-शास्त्री, यो व्याकरण-साहित्य-ज्यौतिषाद्यनेकविषयानां पारदृश्वा तदानीन्तनैस्तत्रत्यैश्च सर्वैरपि कोविदैः प्राप्तप्रतिष्ठ आसीत् ।

अनेन भूभ्रमण-खण्डनं, बुन्देलखण्ड-प्रकाशिका, मुग्धाप्रकाशः शिक्षा-कौमुदीत्यादि निबन्धषट्कं प्रणिन्ये । 'नयागाँव' स्थितराजकुमार कालेज-संस्थायाँ चिररात्राय छात्रा अध्यापयामासिरे । दतिया-राज्ये श्री भवानीसिंहभूपालैः प्रत्यर्पितं राजगुरुपदञ्चालञ्चक्रे । श्रीमन्मुकुन्द शास्त्रिण,:, 'श्रीबालकृष्णशास्त्री, श्रीकृष्णशास्त्री' श्रीहरिकृष्णशास्त्री श्रीउपेन्द्रशास्त्री इत्यपत्य-चतुष्टयी जज्ञे ।

अथ विंशतितमविक्रम-शताब्द्यां द्वाविंशसमासु [ १६२२ ] माहुले वलक्षपक्षे शितिकण्ठ-तिथौ टीकमगढ़नगरे श्रीबालशास्त्रिणः स्वकीय मातामहानां दीक्षितसुन्दरलालमहोदयानामुदवसिते प्रादुरासन् । प्रेक्षाप्रकर्षवशेन प्रथमे वयस्यचिरादेव स्वपितृचरणेभ्यः स्वपितृव्य-

चरणेभ्यः श्रीनारायणशास्त्रिभ्यश्च वैदुष्यं समधिगम्य सारस्वते सरस्वति निपुणं न्यष्णासिषुः । विंशतितमे वयसि च 'कोटा' नगरे श्रीवल्लभ सम्प्रदायस्थप्रथमपीठाधीश्वरान् श्रीरणछोड़लालजी महाराजान्समया श्रीमथुरेशमन्दिरे शास्त्रिपदं समासाद्य महनीयां साम्प्रदायिकसेवां समाचरन् । तेन तूर्णमेव वैदुष्यप्रकर्षतः शास्त्रिचरणानां प्रतिष्ठा परितः प्रासिध्यत् ।

बहुकालाद् बहुभ्यश्छात्रेभ्यो नानाविधा विद्या दिशन्ती शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायविश्रुता कोटानगरे स्थापिता श्रीविट्ठलनाथपाठशालाऽमीषां शास्त्रिचरणानामुत्साहयोजनाभ्यामेव समृद्ध्यतिस्मेत्येषा समज्ञा विज्ञानां मुखतः साम्प्रतमपि श्रूयते । निगमागमनिर्दिष्टेषु नानाविषयेषु लौकिकेषु च परमनैपुण्य-प्रकर्षेण कोटानगरे, राजकुले, नागरिक-कुले च शास्त्रिचरणानां विशेषतः परिचयः प्राचीयत । तेन तदानींतने राजोपक्रमे आंग्लविद्यालये प्रधानसंस्कृताध्यापक-पदं नियत्नमासीसदन् । तत्र विंशतिवर्षाणि यावदध्यापन-कार्यं सम्पादयन्तः सर्वविधं यशः समन्वैषुः । तदानीन्तनात्कोटापुरपुरन्दरात् ' उम्मेदसिंहवर्मणः ' सकाशान्महतीं प्रतिष्ठामनेकशः पारितोषिकांश्चाविन्दन् ।

शु. सं. । प्रथमपीठाधीश्वरेषु गोस्वामिश्रीरणछोड़लालजी महाराजेषु नित्यलीलां प्रयातेषु शास्त्रिचरणाः कोटा नगर-निवासं समुत्सृज्य द्वासप्ततितमे वैक्रमाब्दे [ १९७२ ] गो. श्रीजीवनलालजीमहाराजैरागृहीता गुर्जरे पोरबन्दरपत्तनं गत्वा पूर्वोक्तमहाराजान् सुबोधिनीमध्यापिपन् । तदा समये समये च 'झालावाड़' वास्तव्यैर्महामहोपदेशकैः श्रीश्रवणलालजीमहोदयैः सह गुर्जरे, सिन्धौ, पञ्चनदेच प्रदेशे नाना नगरेषु ग्रामं ग्रामं वैदिकसनातनधर्मं भक्ति-सम्प्रदाय-सिद्धान्तञ्च प्राचीचरन् ।

तत्समयं समया च श्रीनाथद्वाराधीशाः गो०श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराजाः श्रीशुद्धाद्वैतस्य विशेषतः समुन्नतये पुरास्थापितायाः श्रीगोवर्द्धन संस्कृत-पाठशालायाः पूर्वरूपं परिवर्त्य शुद्धाद्वैत-पाठन-पाटीपटीयसीं तां विधाय तत्र कुलपति-पदे शास्त्रिचरणान् प्रातिष्ठिपन् । एतेषाञ्च तत्त्वावधाने नानान्तेवासिनो व्याकरण-साहित्य-दर्शनादिषु वाराणसेयीराज्यार्यान्ताः

परीक्षाः समुदतरन् । शास्त्रिचरणैर्निर्दिष्टया योजनयैव तदानीं श्रीनाथ-पत्तने शुद्धाद्वैत-संप्रदाय-शिक्षा-प्रधान-केन्द्रं परीक्षा-प्रधान-केन्द्रञ्च नियुक्ते, ये साम्प्रतमपि प्रचरती साम्प्रदायिकसाहित्य-सेवां विधत्तः ।

मुनिनगाङ्कशशिसंमिते वैक्रमाद्बे [ १९८७ ] दतियाराज्य-महीमहेन्द्रेण श्रीगोविन्दसिंहवर्मणाहूय शास्त्रिचरणा वंशपरम्पराप्राप्तेन राजगुरुपदेनासमाज्यन्त । तदात्वे शास्त्रिचरणैर्युवराजकुमारः श्रीवलभद्रसिंहः सावित्र्योपानीयत, द्वितीयराजकुमाराय देववाङ्मयं चोपदिदिशे ततः प्रोक्तमहाराजेन राजकीयधर्म सभापतेः पदं शास्त्रिचरणेभ्यो व्यतारि । तदपि कियन्तं कालं सम्यङ् निरवहन् । तत्-समये दतिया नरेशैस्तदवस्थामनुसन्धाय शास्त्रिचरणेभ्यो यावज्जीवं – पञ्चाशन्मिता मासिकी विश्रामवृत्तिर्व्यश्राण्यत ।

परिणते वयसि शास्त्रिचरणाः भगवत्सेवासान्निध्य-समीहया श्रीनाथ पत्तनं कङ्करपल्लीञ्चाध्युष्याल्पं कालं वर्तमानान् कंकरपल्ली-पुरुहूतान् गो० श्रीव्रजभूषणमहोदयानध्यापिपन् । एतेषाश्च समाश्रयेऽध्ययन व्याख्यान-ग्रन्थनिर्माणादिना कमपि लोकोत्तरं जीवनादर्शप्रकाशं विस्तारयन्तः सम्प्रदाय साहित्य सेवामकुर्वन् ।

पञ्चपञ्चाशद्वर्षाणि यावत्पुष्टिसम्प्रदाय-नामसेवां निर्वहद्भिः शास्त्रिचरणैर्नैकेऽन्तेवासिनोऽध्यापिपत, ये चेदानीमपि बुन्देलखण्डमध्यप्रदेश-मालवा - राजस्थान - गुर्जरप्रभृतिषु प्रदेशेषु सुरसरस्वतीं समाराध्नुवन्तः शास्त्रिचरणा सर्वदा गुणगौरवं गायन्ति । सुतनिर्विशेषं परिपालितः परिशिक्षितः प्राप्तस्वल्पविद्योऽपि तदीयः कश्चनापि शिष्यः स्वलोक-यात्रानिर्वाहेऽक्षम इति न श्रूयते । स्वाध्यायापनाभ्यामतिरिक्ते समये च केचन निबन्धा विवृताः, कियन्तः संशोधनादिना संस्कृताः कतिपये स्वोपज्ञाः प्रत्यग्राः प्रणीताश्च । त एते प्राप्तप्रकाशाः पुष्टिमार्ग-प्रणयिभ्योऽभूतपूर्वमालोकं निर्देक्ष्यन्तीति परं प्रहृष्यते ।

## शास्त्रिचरणै निबद्धा निबन्धा अमीः—

१. वैदिकसूक्तमन्त्रार्थ-व्याख्या ।
२. गीतार्थ-विचारः ।
३. ब्रह्मसूत्रार्थ-विचारः ।
४. भागवतार्थ-विचारः ।

५. श्रीकृष्ण-स्वरूप-प्रतिपादनम् । ६. श्रीनाथभावोच्चयः ।
७. श्रीवल्लभाचार्य-स्वरूपदीपिका । ८. स्वतन्त्रश्लोकार्थ-विवेचनम् ।
९. साम्प्रदायिकसिद्धान्त-विमर्शः । १०. दीक्षामन्त्रार्थ-पर्यालोचनम् ।
११. प्रकीर्णकपद्यानि । १२. शब्दार्थ-संग्रहः [ गोविन्द कोशः ]
१३. ईशावास्योपनिषद् व्याख्या १४. केनोपनिषद् व्याख्या

निर्दिष्टानामेषां निबन्धानामामूलचूलं विमर्शनेन विशदं विविच्यत एव यत् - शास्त्रिचरणानां चतुरस्रं तलस्पर्शि वैदुष्यम् । देशकालानुकूलं विवेचनाचातुर्यम् । सर्वाणि लौकिकव्यसनानि विहाय निगमागमेषु निरन्तरं व्यासङ्गः, नैकशः कृतशास्त्रपरिश्रमैर्मनीषिभिः सहावितथं सौहार्दम्, प्रौढिवादप्रतिमैः पाण्डित्यपाटवाटोपैः शबलितानर्थान् निस्तुषीकृत्य वास्तविकवस्तुसंस्तवप्रस्तावः, आडम्बराग्रहपाखण्ड प्रतारणाप्रभृतिभिरस्पृष्टा शास्त्रीयविषय निर्देश शैली, एवमाद्यो नि गुण गौरव-सौरभाणि चिराय गुणगृह्यालूनां मनांसि हठात् हरन्ति, हरिष्यन्तीति च परं प्रत्येमि ।

वैक्रमाब्दे १९९७ मिते माघ कृष्णैकादश्यां दतियानगरे लौकिक व्यवहार-धुरं स्वात्मजे विन्यस्य भगवल्लीला-साक्षात्कारमभीप्सव पार्थिवमुत्सृज्य इमं लोकं यशः शरीरेण भूषयन्तः परं प्रस्थिता ।

अयमियान् संक्षिप्य पद्यरूपेण प्रस्तूयमानोऽर्थः—

चञ्चन्मौलिमणि-प्रभाभिरसकृन्नानाधराधीश्वरैः—
भूयो भक्तिभरेण यस्य चरणावभ्यर्च्य नीराजितौ ।
यद्रूपेण सरस्वती भगवती निष्पक्षपातं व्यधाद्
वृष्टिं ज्ञानमयीं कृपां स कुरुताच्छ्रीबालकृष्णो गुरुः ॥ १ ॥

विनयावनतः-
**जगन्नाथ शास्त्री**
राजकीय सं० पाठशाला-प्रधानाध्यापकः
प्रतापगढ़ [ राजस्थान ]

श्री कृष्णजन्मोत्सवः
सं० २०१०

# विषयाणामनुक्रमणिका


| | विषयाः— | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| १ | मङ्गलाचरणम् ... ... ... | १ |
| २ | उपक्रम-कारिका वेदान्तोपनिषच्छन्दयोर्व्याख्यापरा... | १ |
| ३ | कर्मज्ञानभक्तीनां पुरुषार्थपर्यवसायित्व-विचारः ... | २ से ५ |
| ४ | व्याख्येयोपनिषन्मन्त्र संख्याया उपपत्तिः। | ५ से ६ |
| ५ | उपनिषन्मन्त्रविभागारम्भः। ... ... | ६ |
| ६ | प्रथममन्त्र-व्याख्यानम्-परापरप्रकृतिगर्भः अधिकारिविचारः। | ६ से ८ |
| ७ | द्वितीय-मन्त्र व्याख्यानम् अधिकारिविशेषणत्वेन ... यावज्जीवं कर्मादेशः तत्कृतौ भयाभावश्च। | ९ से ११ |
| ८ | तृतीयमन्त्र व्याख्यानम्-अनधिकारिणां निर्देशः... | ११ से १३ |
| ९ | कारिकाभिः सेव्यब्रह्मनिर्णयः ... ... | १३ |
| १० | चतुर्थ-मन्त्र व्याख्यानम्-धर्मषट्कनिरूपणम्। ... | १४ से १७ |
| ११ | पञ्चम मन्त्र व्याख्यानम्-अद्भुतकर्मत्वनिरूपणम्। .... | १७ से २० |
| १२ | षष्ठ-मन्त्र व्याख्यानम्-सत्सङ्ग-विचारः, | २० से २२ |
| १३ | सप्तममन्त्र व्याख्यानम्-शोक मोहौ आन्तरं फलं शुद्धाद्वैत-स्फूर्तिश्च। | २२ से २३ |
| १४ | अष्टममन्त्र व्याख्यानम्-मुख्यफल निरूपणम्। ·· | २४ से २७ |
| १५ | भक्ति मार्गीयोत्कर्ष निरूपण-दश श्लोकाः।··· | २७ से २९ |
| १६ | नवममन्त्र-व्याख्यानम् ज्ञानकर्मणोरेकतरत्वे तुच्छत्वम्। तत्समुच्चयस्य उपादेयता च। | २९ से ३१ |
| १७ | दशममन्त्र व्याख्यानम्-वेदाः नित्याः प्रामाण्यं ·· स्वतः ब्रह्मविदां प्रामाण्यं तदनुभव तारतम्येन। | ३१ से ३२ |
| १८ | एकादशमन्त्र व्याख्यानम्-कर्म-ज्ञानयोः ···· परस्परोपकारकत्वनिरूपणम्। | ३२ से ३३ |

| | | |
|---|---|---|
| १६ द्वादश-मन्त्र-व्याख्यानम्-लौकिक फले पुरुषार्थता-भ्रम-निरासः। | ... | ३३ से ३४ |
| २० त्रयोदशमन्त्र-व्याख्यानम्-वैदिक काम्य फले पुरुषार्थता भ्रम-निरासः। | ... | ३४ से ३५ |
| २१ चतुर्दशमन्त्र व्याख्यानम्-लौकिक वैदिक कर्मणोः परस्परोपकारकत्व-निरूपणं फलं च। | | ३५ से ३६ |
| २२ पञ्चदशमन्त्रव्याख्यानम्-ज्ञानभक्ति-सहकृतेन कर्मणा अभिव्यक्तस्य ब्रह्मणः फलदातृत्व निरूपणम्। | .. | ३६ से ३७ |
| २३ शोडशमन्त्र व्याख्यानम्-कर्माभिव्यक्तस्य ब्रह्मणः स्वरूपम्। | ... | ३७ से ३६ |
| २४ सप्तदश मन्त्र व्याख्यानम्-स्वतन्त्र ज्ञान मार्गे अधिकारिणी विशिष्य माणानां वैराग्य कर्मणां विचारः | ... | ३६ से ४० |
| २५ अष्टादशमन्त्र व्याख्यानम्-ज्ञानमार्गीयसिद्धेरनन्तरं भक्तिमार्गीया प्रार्थना। | | ४० से ४४ |
| २६ निवेदनं क्षमा याचना च। | | |

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

# "ईशावास्योपनिषद्"

पो० श्रीबालकृष्ण शास्त्रि विरचित

## "मनस्विनी" व्याख्या-सहिता

( मङ्गलाचरणम् )

श्रीकृष्णं परमानन्दमाचार्यान् वल्लभाभिधान् ॥
प्रभुं श्रीविट्ठलं नत्वा, गुरुं स्वं तं कृपानिधिम् ॥ १ ॥
तद्वागमृतशेषेण लब्धप्रज्ञोऽस्मि मन्दधीः ॥
श्रीमदाचार्य-पादेषूपदामिव निवेदितुम् ॥ २ ॥
मनस्विनीमुपनिषद्व्याख्यां सञ्चिनवै शुभाम् ॥
हासास्पदस्य मे धाष्टर्यं क्षमन्तां स्नुता बुधाः ॥ ३ ॥

( उपक्रम-कारिकाः )

भक्तिर्हि सर्ववेदार्थस्तस्माद्वेदान्त-शब्दभाक् ॥
तदात्मकत्वाद् ग्रन्थोऽपि तन्नाम्ना व्यपदिश्यते ॥ ४ ॥
ब्रह्मोपकण्ठे नितरां प्रापणं वा यया भवेत् ॥ ५ ॥
ब्रह्मोपकण्ठे जीवस्य नितरां क्लेश-शीर्णता[१] ॥
रूपावसादो नितरां समीपे ब्रह्मणो यया ॥
सा भक्तिरेवोपनिषद् ग्रन्थोऽप्यत्र तु निर्णयः ॥
भक्त्यैव परमश्रेयो जीवानां नान्यथेति हि ॥ ६ ॥

---

१. षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु, इति प्रसिद्ध्याऽर्थत्रयानुसन्धाने-नोपनिषच्छब्दस्य त्रिविधोऽप्यर्थो ग्रन्थकर्तुरभिमतः (सम्पादकः)

इह हि शोकमोहाद्यनन्तानर्थ-परम्परापराभूतानां, विविधैरुपायै र्निःश्रेयसाख्यायाः परमोपशान्तेः समधिगमाय यतमानानां, कालायत्ततयोत्पन्नविलुप्तप्रतिक्रियाणां, जीवानामुच्चावचागतीर्निचाय्य प्रादुर्भूतप्रभूतानुग्रहं परं ब्रह्म श्रीमन्नारायणः स्वतः सिद्धनिःश्वसितभावान्, स्वतःप्रामाण्यभूतान्, वेदान् परमकल्याण-प्राप्तये प्रपञ्चसृष्टि-कालात्पूर्वमाविर्भावयामास ।

तेषु निःश्रेयसं द्विधा गीतम्— दुःखाभावः सुखञ्चेति ।

अत्राह निगमः—"तरति शोकमात्मवित्", "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति", "अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्यादि च ।

अत्र दुःखाभावः सुखञ्चेति द्वयमुक्तम् ।

तथाहि—"दुःखाभावः सुखञ्चेति पुरुषार्थद्वयं मतम् । मोक्षः कामस्तयोरङ्ग-धर्मौ ह्यर्थेन साधितः" ॥

इति सिद्धान्तात् पुरुषार्थद्वयस्य नैयत्येन समधिगमे व्यभिचारदोषप्रसङ्ग-व्युदासाय वेदेषु त्रीन्योगान्निदर्शयामास च । ते च कर्म, ज्ञानं, भक्तिश्चेति त्रयः । वेदेषु काण्डद्वयम् । तत्रावगुत्य द्वयं कर्म ज्ञानमिति, काण्डद्वयविशिष्टं समुदित्य चैका भक्तिरिति त्रयाणां विभागः । एवं हि-एतेषां निःश्रेयसाभ्युपायता-निदर्शकं श्रुतिजातं भवति ।

(१) कर्मणस्तावत्— "तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति "तेषामेवैष ब्रह्मलोकः" "तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्था सुकृतस्य लोके" ॥ "एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्यः, एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः" । "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-याजिनः सुकृतं भवति" इत्यादि ।

(२) ज्ञानस्य खल्वपि-"तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"। "तमेवंविद्वानमृत इह भवति"। "तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्"। "तदिदमप्येतर्हि य एवं वेद"। "ब्रह्माहमस्मीति"। "स इदं सर्वं भवति"। "तस्य ह वेदाश्च नाभूत्या ईशते"। "आत्मा ह्येषां स भवति"। "य एवं वेद प्रतितिष्ठति" इत्यादि श्रुतिजातम्।

(३) भक्तेस्तु-"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति"। "परं ब्रह्मैतद्यो, धारयति, रसति, भजति, ध्यायति प्रेमति, शृणोति, श्रावयत्युपदिशत्याचरति, सोऽमृतो भवति"। "यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः, नाशान्तमानसो वापि, प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्"। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" इत्याद्युक्त्वा। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"। इत्यादि श्रुतिजातम्। अत्र बलमिति भक्तिः।

तत्रैतेषां किमितरेतर-नैरपेक्ष्येण जीवस्य निःश्रेयससिद्धौ प्राधान्यमुत, इतरेतर-सापेक्षतयाऽप्रधानोपसर्जनभावः ? इत्यत्र रहस्यमेतदुपनिपदैकसमधिगम्यमिति तद् विवृतं, भविष्यति—

अथेयमुपनिषद् मन्त्रजातस्योपदेशोत्तरकालमुपदिष्टा । तत इदं प्रतीतम्- "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्" इति, मन्त्रोक्तां देवतां मन्त्रेण सन्निधाप्य कर्म कर्तव्यमिति मन्त्रजातस्य कर्मण्युपक्षीणता प्रतीयते । अथापि तत्कर्म ब्रह्मणो भक्तौ सहायतामापन्नं चेद् ब्रह्मणस्तोषद्वाराऽक्षयिष्णु फलं साधयति । इतरथा तु क्षयिष्णवेव फलं तादृशेन कर्मणा ददाति परमात्मा । "फलमत उपपत्ते" रिति सिद्धान्त सूत्रात् । नादृष्टवादः श्रौत इति तदर्थं भक्तिः करणीयेति ? सा मुख्यापि पद्माकर-जलं स्वांश-द्वारा पद्म-पोषणेऽङ्गतामिवाङ्ग-भावं कर्मज्ञानयोरुपगच्छति । नैवं तस्या उपसर्जनीभावो भवति ।

सोऽत्रायं फलद्वय-गमको निगमो भवति :—

"विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमो न संदृक् । तेषामिष्टानि समिधामदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन्पर एकमाहुः" । "तद्यथेह पुण्यचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्य चितो लोकः क्षीयते" "प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म" । इति

स्मृतिरपि-- "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च, न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्ति ते" । "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि यादृशः । ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्"- इति ।

अत्राहुराचार्याः—"स्मरणेन क्रियाः पूर्णाश्चित्तावेशश्च तत्र हि । ज्ञानक्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः" ।। इति

भक्तिश्च कर्मण्यपेक्ष्यते, तया च ब्रह्म-तोषे फलं, सर्वविधफल-दातृत्वात्तस्य कर्माध्यक्षत्वाच्च ।

तत्र श्रुतिर्भवति---"एष उ एव वामनीः, एष हि सर्वाणि वामानि नयति" । "कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो

निर्गुणश्च" । "तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्य-न्तमेति" ।

वैदिकमार्गे सर्वधर्मतत्तत्फल-प्रसिद्धिः सत्ववपुषो ब्रह्मणः प्रादुर्भाव-सापेक्षा ।

तदेतदाहुराचार्याः– "ध्यानादिभिर्यदामूर्तेरभिव्यक्तिः परात्मनः, आधानादि-क्रियातोऽपि व्यक्तिर्यज्ञ-स्वरूपिणः"। "ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्बोधः क्रमाद् भवेत् । वेदवाच्ये तु ये रूपे तदभिव्यक्तितः फलम्" "अन्यथा स्वर्ग-सौख्य" न्त्विति च ।

अन्यदपि—"सर्वथा चेद्धरि-कृपा न भविष्यति यस्य वै । तस्य सर्वमशक्यं स्यात्" इति ।

एवञ्चात्र वैदिककर्म-मार्गे परमात्मनः पुरुषोत्तमस्य भक्तिं विना न निर्वाह इति सिद्धम् । परं तस्या एवमुपसर्जनता प्राप्नोति तां व्युदसितुं, तस्याः स्वतः पुरुषार्थतांञ्च दर्शयितुं, विषयाधिकारि-साधन-फलेभ्य उत्कर्षं तस्या आहैयमुपनिषद् ।

( कारिकाः )

काण्डद्वयात्मका वेदा हरि-षड्गुण-बोधकाः ॥
हरिं विशिष्टं तैः प्राहुस्त्वक्षरात्परतः परम् ॥ ७ ॥
अक्षरं ब्रह्म परमञ्चाहुस्तेनाष्टभिः पुनः ॥
नवधा निर्गुणा चेति द्विधा भक्तिरिति स्थितम् ॥ ८ ॥
निरूप्यमष्टादशधाऽष्टाभिर्दशभिरेव हि ॥
कृष्ण-लीला दशविधा अवतारोत्तरास्ततः ॥ ९ ॥
पूर्वं पञ्च विधास्तस्य त्रयो धर्माः श्रुतीरिताः ॥
तेनाष्टादश-संख्याकैर्मन्त्रैरुपनिषद्युता ॥ १० ॥

प्रजापतिः सप्तदशो यज्ञात्मा पूर्वकाण्डभाक् ॥
ब्रह्म चोत्तरकाण्डेऽस्ति ततोऽष्टादशधोच्यते ॥ ११ ॥
प्रमेयमष्टादशभिर्मन्त्रैर्गुह्यं निरूप्यते ॥
" परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम् ॥ १२ ॥ इति

तत्राष्टाभिरधिकारिविषयादीनाहुः । तत्रायं विभागः—

युक्तस्य तु विनिर्धारस्त्रिभिः सेव्यस्य निर्णयः-
द्वाभ्यां, तथा साधनस्य, फलस्यैकेन सेवनम् ॥ १३ ॥
अष्टाभिरत्र सकलं स्वरूपं विनिरूप्यते ॥
ऐश्वर्यमष्टधा यस्माद् विषये तेन तत्तथा ॥ १४ ॥ इति

अस्याः प्रजापति दृष्टाया उपनिषदोऽयमादिमो मन्त्रः । अत्राधिकारि-स्वरूपं निर्दिशत्युपजीव्यत्वाद्, अन्यथा शास्त्र-प्रवृत्तिर्व्यर्था स्यात् ।

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् ॥
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" ॥ १ ॥

जगत्यां यज्जगत् किञ्चित् तदिदं सर्वमीशावास्यमिति सम्बन्धः ईशा– ई लक्ष्मीस्तस्या लोकमातुरपि नियामकेन, सर्वेषां सर्वविधफल दातुं समर्थेन । तदिदं सर्वं वास्यमाच्छादनीयम् । अस्य सर्वस्याच्छादने ईशः शक्त इत्यर्थः । सर्वानर्थेभ्योऽस्य मातुस्तद्गर्भस्य जगतस्तस्थुषश्च ईशकर्तृका रक्षा सूचिता भवति ।

"तमीशानं वरदं देवमीड्यं" "स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः" "विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः"

इति श्रुतिराह। सर्वशब्दस्य वृत्ति-संकोचो माभूदिति परामृश्य-माह- इदं यज्जगत्यां जगत् किञ्चिदिति। जगत्यामिति ब्रह्मप्रकृते र्वचनम् जं- जातमात्रं सर्वमत्र गतं भवति- इति जगती। गौरादित्वा न्ङीप्। इदं- पराग्वृत्तिवेद्यम्, भूतं भव्यं भवच्च सत्, यत्। गत्यर्थस्य ज्ञानार्थकत्वाभ्युपगमेन ज्ञानाश्रयं चेतनमित्यर्थः। जगत्- गतिश्चेष्टा तदाश्रयं किञ्चिदीषच्चेतनम्। नहि जडं सर्वथाऽचेतनमपि तु तिरोहित चिद्धर्मत्वात्स्वल्पचेतनमिति। तेन निःस्वभावमाकाश-कुसुमादि व्याव-र्तितं भवति। प्रकृतिर्हि परावर-भेदेन द्विधा। जात्याश्रयमेकत्वमादायैकत्वं जगत्यामिति।

**सा हि—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्" ॥**

इत्यत्रोक्ता। ईशस्य भोगास्पदत्व-सूचनाय स्त्रीत्वेन व्यपदेशः, नास्यां सृष्टौ भगवतः प्रवेश इति ध्वनितम्।

चिदंशस्य भोग्यत्व-सूचनाय जगत्यामित्याह— "पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्" इति हि श्रुतिः। तस्या अवयवितया-ऽऽधेयं यत् जगत्। जगती अन्तर्वत्नीव, सर्वं जगद्गर्भ इवेति भावः। किंचिच्च तत्तथा। जगच्चेतनं किञ्चिदचेतनम्। 'किमनेन'? इत्यादि प्रयोगात्-किं शब्दोऽयं निषेधमभिधत्ते। "प्रतिपच्चेतना चि"दित्येतदर्था-न्तरम्। ज्ञाननिरूपित विषयताश्रयमिति चिताऽपेतं किञ्चि द्भवति। इदमा निर्देशेन स्वस्य सर्वपदार्थ-स्वरूप-याथार्थ्य-दर्शित्वमृषिः सूचयति, तत इदं नित्यं भवति।

असंकुचितवृत्तिकः सर्वशब्दोऽत्र प्रयुक्त आधारभूतां जगतीं-मातरमिव सर्वस्य गर्भस्य संगृह्णाति। ईशा वास्यमित्युक्त्या, (ईशः) सर्वस्य साधारस्य चाच्छाद्याच्छादक-भावाभिधानेनेशो व्यापकत्व-बोधनाद् बृहत्वेन ब्रह्मत्वं द्योतितम्। "ब्रहत्वाद् ब्रह्मणत्वाच्च ब्रह्म" इति श्रुतेः। भोग्यं भोज्यं वा वस्तु आच्छाद्यैव रक्ष्यत इति। एतेन यदधिकरणं

यच्चाधेयं चरमचरं तत्सर्वं ब्रह्मणा प्रावास्य स्व-भोगार्थं रक्षितमिति निपीतार्थः। सर्वविधैषणाया व्युत्थितो 'मच्छुरणमीडेवे' ति *कृताध्यवसायो यस्तस्य भक्तावधिकार इति स्फुटति तात्पर्यम्।

**"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनं"- इति हि श्रुतिः।**

ननु चिता च भोग्येन स्वभाव-निर्वाहाय भोगः खलु कर्तव्यः ? नह्यशनायितेन छादितेन स्वामी भोक्तुं शक्यः अतश्च (?) स कथं कर्तव्यः इति तस्येतिकर्तव्यतामर्द्धर्चेनोपदिशति-"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" इति यस्य चराचरमाच्छाद्यं तेन त्यक्तेन- भुक्त्वाऽवशेषितेन भुञ्जीथाः-भोगः कार्यः। विधावयं प्रत्ययः। स्वभोगावशिष्टस्यार्थस्य त्याज्यत्वाद् भुक्त-शेषेण निर्व्यूढस्य कर्तव्यमाह, अकामहतत्वाय—"मा गृधः कस्य स्विद्धनम्"। कस्यापि धनं- प्रीणनाद्धिनोतेर्धनमिति। प्रीणकं वस्तु अभिकांक्षमाणो माभूः। कः प्रजापतिस्तस्यापि, किमुतोऽवरस्य। एतेन वित्तैषणाऽभाव ईशोच्छिष्ट। भोगस्य फलमिति बोध्यते।

**"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतोऽभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते"।**

इति श्रुत्या कामाख्य-दोषाभाववतामीशा-सेवनेऽधिकारः। कामश्चायं दोषः सर्वदोषाणां मूर्द्धा, तदभावे सर्वे दोषा न भवन्ति। "मुक्तोपसृप्य-व्यपदेश"-न्यायेन निर्दोषाणां सेवनाधिकारः फलति।

**एवं ह्याहुराचार्याः - "बुद्धिश्चायुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः। यस्य नैते भविष्यन्ति तस्य नास्त्यधिकारिता" इति।**

एवमर्द्धर्चेन बुद्धिर्दोषाभावश्चोक्तः। ताभ्यामादरः। सा दोषैरनाक्रान्ता बुद्धिर्विशुद्धा स्वविषय आदरं करोत्येवेति सेवितुर्व्याख्या॥ १॥

---

* मच्छुरणं-ईट् = ईशः, एव इति स्पष्टोऽर्थः।

अथ दीर्घकालताङ्गमायुराहर्षिः—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" ॥ १ ॥

इहेति भारतादिः कर्मयोग्यो देश उच्यते। 'कर्माणि कुर्वन्नेव' स्वाधिकारप्राप्तानि यावन्ति तावन्ति कर्माणि। उद्भूतावयव-विवक्षया बहुत्वमेतेषामाह— तानि, 'कुर्वन्नेव' न तु त्यजन्नापि कारयन्। अनुष्ठान ईप्सिततमानि, नत्वनर्थपर्यवसितानि- इति द्वितीयार्थः *। "श्येनेनाभिचरन्०" इत्यादीनि वेदबोधितान्यपि व्यावर्त्तितानि। "एष पन्था, एतत्कर्म, एतद् ब्रह्म, एतत्सत्यं, तस्मान्न प्रमाद्येत, तन्नातीयात्"। "नह्यत्याय न्पूर्वे ये ह्यत्यायँस्ते पराबभूवु" रिति हि समाम्नायात्।

स्मृतिरपि—

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" ॥
" एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम्" ॥

इति, कर्माण्यग्निहोत्रादीनि नित्यानि सत्वगुणोदय-हेतूनि। "कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तं प्रसीदति" इति,भगवद्-भक्ति-साधकानि श्रवणकीर्तनस्मरणादीनि च ( कर्तव्यानि )।

"दान व्रत तपो होम जप स्वाध्याय संयमैः ॥
श्रेयोभिर्विविधैश्चैव कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते" ॥

"धर्मस्य तत्व-जिज्ञासे" त्यादिवाक्येभ्यो योगिभिरनुष्ठेयानि च, " अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्म-दर्शनम्" इति वाक्यात्। 'जिजीविषेत्' इति जीवन-रूप इष्टार्थे प्रवर्तनाऽभ्युपाय-निर्देशोनात्र क्रियते। अन्यथा जीवनेच्छापि न कार्या। पुरुषार्थापर्यवसायि जीवनमजा-गलमणिप्रायमित्याह—

---

* द्वितीयाविभक्तेरर्थ, इत्यर्थः कर्माणीति।

"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन-कथासु यः
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्" ॥

इति भागवतशास्त्रम्। अन्यथा सेच्छाऽनर्थं फलेत्। 'कुर्वन्' इति शतानैरन्तर्य-बोधकः, "चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः" तद्रूपाण्यावश्यकानि, भगवत्परिचर्यादीनि चेति कर्मपदेन संगृहीतानि। 'शतं समाः' संख्येयेऽपि विंशत्याद्या संख्या, एकत्वे भवति- इति तथा निर्देशः। अन्तरा प्रतिबन्ध-कानुपस्थितिं सूचयितुमत्यन्तसंयोग उपादीयते 'समाभिः'। शतेनात्यन्त-सम्बद्धां जीविताशां कर्माणि त्यजन् जह्यात्। "मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः" इति श्रुतेः। अवैगुण्येनानुष्ठितानि कर्माणि देव-सन्तोष द्वाराऽऽयुषामुपचायकानि भवन्ति। शतं चायूंषि पुरुषस्य वेदचोदि-तानि। "शतं मे घ्नन्ति पापानि शतमायुर्विवर्द्धति" इत्यागमो भवति।

फल-निर्देशपुरस्सरं कर्मानुष्ठानं येन तात्पर्येण तदाह–'एवंत्वयी'त्यादिना 'एव' मिति-इतिकर्तव्यता-सहितः शास्त्रोक्तः प्रकार उच्यते। 'इत' इति निर्दिष्टस्य परामर्शः। अस्मात्प्रकारादन्यथा नास्ति, चेत् तर्हि 'त्वयि नरे कर्म न लिप्यते'। अन्तिमे भवे सर्वथा कर्मणो लेपाभावार्थं कर्म कर्तव्यमिति। उत्तरोत्तरं प्रसवः कर्मणां स्वभावः, स कर्मानुष्ठानेनैव व्यापन्नो भवति।

" कर्म-मोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥"
" कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ॥
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्म-शुद्धये"॥
" यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धनः"॥ इति स्मृतिभ्यः

'नर' इति पशुस्त्रीव्यतिरिक्तः * पुमानत्राधिक्रियते। त्वं च पुमान्। "क उत्तमश्लोक-गुणानुवादात्पुमान् विरज्येते"ति भगद्विषयक कर्मसु

---

* पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ( भा. द. स्कं १ अ. ३ श्लो. ) इत्यत्र सुबोधिन्याम्–"पशुस्त्रीव्यतिरिक्तश्चेत्"० इति विवेचनात्।

तादृश एवाधिकारी । स च बहुषु कश्चिदेको भवतीति द्योतयितुमेकवचनेनाह ।

एवं नित्यकर्मानुष्ठानं स्वलेपाभाव-द्वारा मुख्यफलं सत्वमेवाविर्भावयति, तच्च दुःखाभावमेव साधयति–इति सूचितम् । आयुषो वृद्धिस्त्ववान्तर फलं दुःखाभावान्तःपातिनी ।

अनेन ऋग्द्वयेनाधिकारिणो लक्षण-साङ्गता गदिता । तदेतदाहुराचार्याः— "बुद्धिश्चायुश्च दोषाणामभावः"० इति ॥ २ ॥

अथैवमधिकारिणं निर्दिश्यानधिकारिणमाह—

यद्यपि स्वरूप-योग्यता संभजने सर्वेषामविशेषेणऽथापि फलमुखाधिकारः पूर्वत्रनिर्दिष्टानामेव, नेह निर्दिष्टानामिति स्वकृतान्तं बोधयितुमाह । 'एतादृशां सङ्गो बाधक इति तादृशाः परिहर्तव्याः' इति तेषां सामान्यतः स्वरूपमाह—'असुर्या नाम'० इत्यादिना—

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः" ॥३॥

'ये के चात्महनो जनास्ते तान्प्रेत्याभिगच्छन्ति, येऽसुर्या नाम लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः' सन्ति । अत्र हि निगमो भवति— "अथैतयोः पथोर्न कतरेण तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्व"इति श्रुतौ दैवयानपितृयाणाभ्यां विलक्षणस्तृतीयो मार्गः। तन्निष्ठा ये केचनेति द्विविधादपि मार्गाद्भिन्ना निर्दिश्यन्ते, तेऽपि बहवः । तेषामेतल्लक्षणं भवति, 'आत्महन' इति ।

सर्वेभ्योऽप्ययं प्रियतम आत्मा । "न वा अरेऽयमात्मा पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इति हि समामनन्ति । तमपि घ्नन्ति । तमसः परमोऽयमवधिरात्म-घातः । स्वात्मन्यपि येषां न दया, कुतोऽन्यत्र भविष्यति । यद्यपि नास्य घातः संभवति, तथापि तद्बुद्धिरेतादृश्येवेति । तथा– कामक्रोधादयोऽन्तःकरणप्रभवा दोषा रिपवः, तैः परिपुष्टं मनः, अहंकारात्मनः पक्षे भवन्, जीवात्मनः सर्वां चिच्छक्तिमपहरति । स तदा निराशीरहिरिवाशक्तो मृतकल्प आत्म-श्रेयसेऽ-

त्तं भवति। अहंकारस्तेषामात्मा प्राकृतानां, न तु चिद्धातुः। ते हि बाह्यप्रस्थानाः शिष्टापरिगृहीताः शुष्कैस्तर्कैरात्मानं घ्नन्ति। "नास्त्यात्मे"ति ते 'केचने'त्यनेन निर्दिष्टाः। भगवानपि— "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः" इत्यादिना तेषां स्वरूपमाह।

स्मृतिरप्याह—

**"नृदेहमाद्यं, सुलभं, सुदुर्लभं, प्लवं, सुकल्पं, गुरुकर्णधारम्।**
**मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा"॥**

इति तेषां सहजाऽऽसुरता व्याख्याता भवति 'आत्महन' इति। अनिवर्त्यदोषा जीवा उक्ताः। 'ते तान्प्रेत्याभिगच्छन्ति' सर्वे एव ते, न तत्र कश्चनावशिष्यते। 'तान्' इति बाहुल्यं लोकस्य प्रोक्तं भवति, प्रकारभेदज्ञापनाय तानिति बहुवचनम्। 'अभिगच्छन्ति'— तल्लोकानामाभिमुख्येन गमनं तेषामेव निषिद्धक्रियाशक्तिमत्त्वाभिज्ञापकम्, तत् तेषां स्वरूप-प्रतिपत्तिरेतैरेव लोकैर्नान्यथेत्याह'प्रेत्येति'– प्रायणं लोकानामुक्तम्। न ततस्तेऽन्यत्र गच्छन्ति, न पुनस्तत आवर्तन्ते। यद्यन्यत्र गच्छेयुस्तदाऽब्धयो विनिर्गता झषा इव विनाशमापद्येरन्।

लोकानामथ स्वरूपमुच्यते– 'अन्धेन तमसाऽऽवृताः, असुर्या नाम ते लोकाः' इति। असुषु रमन्ते ये तेऽसुराः। अनात्मनि रमणं तेषामुक्तमेकत्रानवस्थितिश्च। 'सुर=ऐश्वर्य' इति धातोर्वा, स्वभावमासुरं परावर्तयितुं ते ह्यसमर्था इति- असुराः। असुरेषु साधवः- 'असुर्याः'। 'नामे' ति रूढिरियं तेषाम्। 'ते' इति तेषां स्मरण-विषयतामाह वक्तृ- श्रोतॄणां ते स्मरणीया एव, श्रुत्या प्रत्यक्षानुभवरूपया विषयीकृताः, अनुमान रूपायाः। स्मृतेस्ते विषयाः। भावना तत्र व्यापारः। "मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गति"मिति स्मृतेः, स्मरणीया एवान्येषाम्। आत्मघ्नां तु 'ते लोकाः' लोकनीया भवन्ति।

इतरेभ्यस्तेषामसाधारण्यमाह–'अन्धेन तमसाऽऽवृताः'इति। तमसान्धकारेण। तच्च तमोऽन्धं, रात्रौ यथा गृहान्तःप्रकोष्ठके तमः स्वतो ज्ञानविरोधि, तत् स्वरूप-विस्मृतिरूपमपि भवति। तदपेक्षया या कथमप्यनप-

नोद्या स्वरूप-विस्मृतिः सा'अन्धं तमः' । तेनावृताः । आसुरावेषिणस्तमसा वृता भवन्ति, ते तु 'अन्धेन तमसाऽऽवृताः' इत्याधिक्यम् ।

सर्वं हि ब्रह्मणाऽऽवृतं, परं तत्रैव सर्वधर्मैरप्रकटं तत्। "नो सदासीन्नासदासीत्तदानीं तम आसीत्" इति ( तमःशब्दस्य ) निगमवद्ब्रह्म-वाचकता-व्युदासायान्धेनेति (विशेषणम्)। अन्धं तमोऽविद्या, तया हि त आवृता भवन्ति। दिवाभीतानां पेचकापरपर्यायाणां यथा सौरः प्रकाशः क्लेशायालं, तथा तेषां शास्त्रार्क-कृतप्रकाशो दृष्टि-रोधकत्वादतिक्लेशकर इति। तत्रैव महामायान्धकाररूपेऽन्धे तमसि 'प्रेत्य' पतिता आसते-इति भावः। आवृतस्येतर-संस्पर्शो न भवतीति-इतरासंस्पर्शस्यायमभ्युपायस्तेषां निर्दिष्टः।

"दयया सर्वभूतेषु संतुष्ट्या येन केन चित् ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः"॥

इति ( ते ) साधनवर्ग-प्रतिकूलाः- इति । स्मृतिरपि भवति-

"आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम्" ॥

इति स्मृतौ याऽधमा गतिरुक्ता सा श्रुतौ-'अन्धेन तमसाऽऽवृता लोकाः' इत्यनेन वाक्येनोक्ता। एतद्विवरणमेव स्मृतिः। 'लोकान्' इति विपरीत लक्षणनाह-अलोकाँल्लोकानिति। दुष्टप्रकृतिं प्रति-'सखे ! जीवशरदां शत' मितिवद् योक्ता तानन्यलोकानिव न प्रतिपद्येतेति तत्र तात्पर्य-ग्राहकं वाक्य-माह-'ये के चात्महनो जनाः' इति। अतिनिन्दा ध्वन्यते, तथाचात्महभिर्न भाव्यमित्युपदेशः फलति। एवं कर्मज्ञानभक्ति-फलादेते व्युदस्ताः- इति तात्पर्यम् ॥३॥

एवमनधिकारिणोऽधिकारिणश्चोक्त्वा भजन-विषयं निर्दिशति—
( कारिकाः )

भक्ति-मार्गे हि सेव्योऽयं पुरुषो द्वादशात्मकः ।
द्विगुणो भगवानत्र सेव्यो वेति समीर्यते ॥ १५ ॥
सगुणां नवधा भक्तिं निर्गुणां च प्रवर्तयन् ।
काण्डद्वयार्थं तनुते सोऽत्र द्वादशधा मतः ॥ १६ ॥

इति द्वादशैर्धर्मैरत्र सेव्यत्वमुच्यते । तानाह द्वाभ्याम्-

"अनेजदेकं, मनसो जवीयो, नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" ॥ ४ ॥

"वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" ॥

इति ब्रह्मणि भगवच्छब्दस्य वृत्तिः । तत्र-'भग शब्दार्थान्निर्दिशति'-'अनेज' दिति-ऐश्वर्यम् । 'एक' मिति-धर्मधर्मिणोरैक्य-प्रतिपत्तिःशुद्धाद्वैतरूपतावोधनाय भवति, धर्म्ययं निर्दिष्टः।'मनसो जवीयः' इति वीर्यम् । 'नैनद्देवा आप्नुव'न्निति यशः । 'पूर्वमर्ष'दिति श्रीः । 'तद्धावतोऽन्यानत्येतितिष्ठ'दिति ज्ञानम् । 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' इति वैराग्यम् ।

अथैश्वर्यम्-अप्रतिहताऽऽज्ञाशक्तिर्हीश्वरो भवति— "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावाभूमी विधृते तिष्ठतः" इति हि श्रुतिरेवमाह ब्रह्म 'नैजति' तदन्यस्य प्रशासनकर्तुरभावात् । सर्वेभ्योप्युत्तमानां सूर्याग्निवाय्विन्द्रमृत्यूनामेजनं तद्भयादिति- तदनेजत् भवति । तत्रैष निगमः—

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" ॥

इति (ऐश्वर्यनिरूपितम्) ।

(अथ-वीर्यम्) मनो हि जववत् । ततोप्यतिशायनेनेदं 'जवीयः' । जवो नामायं संस्कारविशेषः, वेगाख्यो मानसो धर्मः । अनिलादिभ्योऽपि मनो जववत्, ततोऽपि ब्रह्म जवीयः । विशिष्टशक्तिमन्त एव हि वीर्यवन्तो निर्दिश्यन्ते लोके-इति, तदेव हि वीर्यं भवति यल्लौकिकैर्वैदिकैश्चानुल्लङ्घ्यम् । तदेवाश्चर्य-जनकं यतो मनसो जवः । लौकिके वैदिके विषय इत्थं ह्याहोद्धवं प्रति- (भगवान्) "भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्युंज्याद्वशे तं स हि देवदेवः" इति । इदं ततोऽपि जवीयः, तेन मनसानुल्लङ्घ्यस्वरूपतया वीर्यवद् ब्रह्म इति ।

तथात्राप्यागमो भवति— "अप्राप्य मनसा सह०"। "अपाणिपादो जवनो गृहीता०" "मनसोऽयं मनो विदुः०" "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति (वीर्यम्)।

(अथयशः-) 'एनद्'अस्मद्गोचरमिति श्रुतिमुखोव्यपदेशः। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति श्रुत्याऽर्थैक्यं निगमयितुं, वर्णयितुं शक्यमशक्यं चोक्तम्। श्रुतिर्हि तद्यशो गृह्णातीति 'देवाः' इति स्तूयमाना मन्त्रैर्भवन्ति, ते स्वगुणेन नास्य महिमानमाप्नुवन्। निर्दोष एव हि स्तूयते, अद्भुतपराक्रमत्वाच्च, 'देवा नाप्नुवन्'। संभूयावस्थिताः सर्वे देवाः। पूर्णं सत्वं भवति तच्चेदाप्नोति तदा तद् ब्रह्म सगुणं स्यादिति निर्गुणतां वक्तुमेवाह।

तदत्र समाम्नायः—

"एष आत्मा, अपहतपाप्मा, विजरो, विमृत्युर्विशोकः"। "न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः"। "अर्वाग्वै देवा अस्य विसर्जनेनेति"

'नैनद्देवा आप्नुवन्नि'ति यश उक्तम्।

अथ श्रीः-'पूर्वमर्षत्'। सर्वो हि पूर्वभावमुज्झित्वोत्तरभावमर्षति* इति स्वरूपादपि प्रच्युतो भवति। सर्वमतोऽन्यद्विनश्यदवस्थं दृश्यते। प्राकृतगुणसृष्टिर्हि कालकर्मस्वभावैरुपहता। "रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा" इति स्मृतेः। "गुणानेतानतीत्यत्रीन्०" "ब्रह्मभूयाय कल्पते०" "निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः" इत्यारभ्य "गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्०" इति च। तत्सम्बन्धादेवान्यत् स्वरूपमर्षति। नेदं कंचनापेक्षते। तथा चात्रागमो भवति- "तं देवाश्चक्रिरे धर्मं०" "स एवाद्य स उ श्वः" "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः, स तत्र पर्येति" इति। स्वरूपादप्रच्युतिरेव हि श्रीर्भवति। ब्रह्म 'पूर्वमर्षदे'व, नत्वार्षीन्नार्षिष्यति, अन्ये आर्षिषुः, अन्ये अर्षिष्यन्ति। तेन ते निःश्रीकाः। स्वरूपानन्द एव श्रीस्तत्प्राप्त्यैव सर्वः पूर्वभावमर्षति।

तदत्र निगमः— "रसो वै सः रस ह्येवाऽयं लब्ध्वानन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्०" "य एतस्मिन्नभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति" इति श्रुतिभ्यः सर्वदुःखाभावः श्रियैवेति- श्रीर्निरूपिता।

---

* भ्वादिगणे रूपम्। तुदादौ-ऋषति।

अथ ज्ञानम्—'तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' । अन्ये हि एतदन्विच्छन्तो धावन्ति, अस्यावेदनात् । तदेतत्स्वयमानन्दरूपं तिष्ठदेव; अन्यानत्येति, निरस्त साम्यातिशयराधस्वित्वेनावस्थितत्वात् । यत् फलरूपं तत्किं प्रति गच्छेदितिगतिनिवृत्तिमत् । ज्ञानाभाववन्त एव हि जरामृत्यूयन्तः कर्मवशाद्धावन्ति ।

तदेषाभ्युक्ता श्रुतिः—

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टदशोक्तमवरं येषु कर्म, एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं पुनरेवापि यन्ति" । "सत्यकामः सत्य सङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" । "इमाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन प्रत्यूढाः"। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

इति ज्ञानम् ।

अथ—तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति-इति वैराग्यमुच्यते । तदपि तद्गुणो लक्षणञ्च, समनियतवृत्तित्वात् । मातरि-अन्तरिक्षे श्वयति-उपचीयते स प्राण वायुः 'मातरिश्वा' । स हि स्वाप्यायिका अपः धारयति-इति सर्वप्राणिना माप्यायनक्षमा आपो यत्र निधीयन्ते । "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" स स्वाप्यायिकाः "हिरण्यवर्णा शुचयः पावकाः" अपः यत्र समर्पयति, तादृशीनामधिकरणं तद् ब्रह्म । इत्याधारतां तस्याह- "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" इति ।

आपो ह्येव सर्वप्राण-विष्टम्भिकास्तासामधिकरणं ब्रह्म । अधिकरण आहितानामन्य एव भोक्ता भवति । नहि- ओदनाधिकरणं स्थाली, ओदनस्य भोक्त्री भवति, किन्तु तत्स्थमन्नमन्ये भुञ्जते । भोग्योपस्थितावपि भोगशक्तावपि, औदासीन्यमेव वैराग्यम् । विरक्ता एव धीराः । "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" इति । अपामाधारतावर्णनेनाऽनासक्तिरस्य सूचिता । आपो हि सर्वरसानामायतनमिति रसाधारं, तदन्यभोग्यमेव न स्वभोग्यमिति कृत्वा-आप्तसर्वकामत्वेन विषयानाकर्षाद्वैराग्यम् ।

तदेतदाह श्रुतिः— "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति" इति सर्वदैकरूपेण समानं, न विशेषभावमृच्छति कदाचित्, इति सामान्ये नपुंसकम् 'तद्' इति । स्त्रीपुंस-भावो हि भोक्तृभोग्यभावे निबन्धनम् । नपुंसकत्वेन निर्देशोऽत्र तद्भाव-व्युदासाय ।

सेव्यतोपयोगि-गुणाश्रयत्वेनेतराभ्यो देवताभ्योऽसाधारण्यं व्याख्यातम्।

एवं षड्धर्मविशिष्टमपि धर्मधर्मिभावेनाऽऽलिङ्गितं सत् 'एक' मिति शुद्धाद्वैतता व्याख्याता। एतादृशं ब्रह्म भक्तिविषयमिति सिद्धम् ॥ ४ ॥

अथास्य सेव्यता-सौलभ्यायाद्भुतकर्मतामाह, विरुद्धधर्माश्रयस्य भक्त्यङ्गत्वात्। तेन स्वशक्त्या भजनाविषयं तद्भक्त्या तदिच्छया च तद्विषयमिति विरुद्धधर्माश्रयत्वेन माहात्म्यं ज्ञातं भवति, तच्च भक्त्यावच्छेदकं; तज्ज्ञानेन भजनीयत्वं हि फलिष्यति—

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ॥
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" ॥५॥

'तदेजति'– भक्तानां फलदानार्थं चलति। तदिति लोकवेदयोः प्रसिद्धं, भक्तिमार्गं प्रकटयितुं यल्लोकवेदप्रसिद्धम्। "अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" इति हि स्मृतिर्भवति। एजति- कम्पते, चलते, स्वरूपफल-प्राप्त्यनुकूलां क्रियाशक्तिं परेभ्यस्तद्दानार्थं बिभ्रत् तथोच्यते। "एवं स देवो भगवान् वरेण्यो यो निःस्वभावानधितिष्ठत्येकः" इति प्राहर्षिः। फलरूपमेव वरणीयत्वाद्वरेण्यम्। तेन ब्रह्म जीवानां- स्वप्राप्त्यर्थं दीव्यतीति द्योतितम्।

'तन्नैजति-' यदा हि साधनान्तरनिष्ठामदीनतां च पश्यति तदा नैजति, स्वविभूतिद्वारैव फलं ददाति*, स्वासनान्न प्रचलति। तद्विभूतयोऽग्न्यादयो देवताः। तत्रागमो भवति—

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः, तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः"।

इति विभूतिरूपाण्यन्यान्यपि वेदप्रोक्तानि, तेभ्यः फलं तत्रैव प्रतिपादितम्।

---

* तथा च गीतायाम्="यो यो यां यां तनुं भक्तः०" (७-२१) देवान्देवयजो यान्ति० (७-२३) इत्यादि।

'तद्दूरे'-यद्दूरं तद् दुःखप्राप्यं भवति। साधनाभिमानवतामेवैतद्दूरम्। तथाह्याह श्रुतिः-- "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति" इति। स्मृतिश्चापि भवति- "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ताऽऽसक्तचेतसाम्, अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते" इति। ×

'तद्वन्तिके'- तद्उ अन्तिके - तदिच्छया भक्तिमतामेवैतत्सुखेन प्राप्यम्। नात्रदूरत्वं निकटत्वं दिग्प्रयोज्यं, किन्त्वाधिदैविकरूपदिगात्मकब्रह्म प्रयोज्यमिति न दोषः, सर्वत्वात्, परिपूर्णत्वात्। "परीत्य सर्वान्विदिशो दिशश्च" इति श्रुतिर्दिशां तद्व्याप्यतामाह। "बृहत्वाद्ब्रह्मणत्वाच्च ब्रह्म" "ज्यायानाकाशाज्ज्यायान्पृथिव्याः" इति च। अथ- "संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति" इति तत्र निगमः। भक्तप्राप्यत्वे— "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः, अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते", "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्, भवामि न चिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्" इति स्मृतिश्च तत्रार्थे।

अथ-'तदन्तरस्य सर्वस्य' अस्य सर्वस्य-साधननिष्ठावतः तदन्तः प्रकटं भवति। तेषां साधनसाफल्यार्थमन्तःस्थमिति भासते। तत्रायं निगमो भवति—

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्, अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रोऽयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः"। स्मृतिरपि भवति- "योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः" "यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया" "यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति", "सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्, वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः" इति

---

× तथैव भागवते-'विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिना' मिति ( द्वि. ४.१७ ) अत्र कुयोगः-विपरीतदशायां योगः = प्रत्यक्षसाधनसम्बन्धाभावोऽन्याश्रयरूपः।

'तद् सर्वस्यास्य वाह्यतः,-इति भक्तिमताम्। साधनवतां त्वक्षराख्यं ब्रह्म, अन्तःप्रकटं भवति। भक्तानां तु वहिः पूर्णं ब्रह्म षड्गुणकं प्रकटं भवति। "आकाशे तिष्ठन्", "विज्ञाने तिष्ठन्", "आत्मनि तिष्ठन्", "आकाशं विज्ञानमात्मानमन्तरो यमयति" इत्यादिश्रुतिभिः। 'तदन्तरस्य सर्वस्येति' आकाशस्याप्यन्तर्भवति। आकाशेनावच्छिन्नमन्यैश्चेति। तद् सर्वस्यास्य वाह्यतः=अस्मात्सर्वस्माद् वहिर्देशे भवः(तत्) वाह्यमिति वक्तव्ये वाह्यत इति कथम्? इत्थम्- अत्र षष्ठ्या व्याश्रये- ( अष्टा० (५।४।४८।) इति तसिः, वाह्यानां पक्षे, इति। अस्मात्सर्वास्माद् ये वाह्याः कालकर्मस्वभावाक्षरप्रकृतिपुरुषाः, तेषां पक्षेऽस्तीत्यर्थः। यथा सर्वस्मात्ते वहिर्भवन्ति कार्यत्वात् तथा तेभ्योऽयं परमात्मा वहिर्भवति तेषां, कारणत्वात्। कार्येऽनुस्यूतं कारणं, तत्तु कार्याद्वहिरपि, न कार्यमनुस्यूतमिति भावः।

वाह्याभ्यन्तर-व्यवस्था नाकाशकृता, ब्रह्मण आकाशापेक्षयापि व्यापकत्वात्, आकाशान्तराभावेन कथं वाह्य इति—अन्तरिति भवति व्यवहारः, न हि गृहमध्यस्थितैर्गृहमपिहितं भवति इति चेत्— धर्मिग्राहकमानेन भगवत्स्वरूपमाधिदैविकमाकाशान्तरमस्तीति। "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इति न्यात् "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता"। "आत्मन आकाशः संभूतः" इति च। तत आकाशस्य भव उच्यते, दिग्देशकालाकाशादयो न परमात्मनः परिच्छेदकास्तेन परिच्छेद्यत्वात्। "ईशावास्य" मित्यादावेवेशि सर्वपरिच्छेदकताया मन्त्रेणोक्तत्वात्। ब्रह्माकाशप्रयुक्त एवैषोन्तर्वहिर्व्यवहारः। इतरथा दिग्भिर्दिशः, कालेन कालः, आकाशेनाकाशः- परिच्छिद्येत, तेषां परिच्छेदकतायै दीयतां जलाञ्जलिः।

आत्मनैवात्म-परिच्छेदो ब्रह्मणः-इति सिद्धान्तात्परमकाष्ठापन्नं वस्तु तद्वरणमात्रसाधनलभ्यमितरसाधनालभ्यमिति— "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति। स्मृतिरपि भवति—

"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया, शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा"। भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!"

तदेतदाहुराचार्याः—"भक्तावत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः" । भक्तिमार्गे हरिः, (सेव्यः) ज्ञानमार्गेऽक्षरं (ब्रह्म) सेव्यम् । "ज्ञानमार्गे त्वेतदेव सेव्यं कृष्णस्ततोऽधिकः" इति ।

एवञ्चानेन श्लोकेन सर्वोत्तमेनापि ज्ञानेन साधनेन न सुखेन ब्रह्म प्राप्यम्, भक्तिसहकृतेन तु येन केनापि प्राप्यमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सेव्यं, तथैव प्राप्यं चेति सिद्धम् ॥ ५ ॥

तत्र येन केनापि साधनेन भक्त्यनुगृहीतेन तु सुखेन प्राप्यमित्युक्तं, परं तत्रावान्तरव्यापारः सत्सङ्गो भवति— "येन केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्"दितिसिद्धान्तात्-शुद्धेन मनसा ब्रह्म प्राप्यम् । तत्र मननं बुद्ध्या सर्वनिर्णये सति भवति । बुद्धिनाशकस्तु दुःसङ्गः, तन्निरासार्थं सोऽपेक्ष्यते । तथा ह्यागमो भवति—

"न नेरणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः, अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयो ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात्" । "नैषा तर्केण मतिरपनेया प्रोक्तान्यन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" इति । स्मृतिरपि "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया, उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इति ।

ननु ते कीदृशाः, येषां सङ्गेन ब्रह्म सुखप्राप्यम्-इत्याकांक्षायां तेषां लक्षणमाह—

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ॥
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सते"* ॥६॥

सुखेन ब्रह्मेप्सुः 'ततो न विचिकित्सते' । 'किते'रयं संशये वर्तमानात्सन् प्रत्ययः संशयं निवर्तयति । अयमपि विरलो बहुषु, इति-एकत्वेन निर्दिश्यते । 'ततः' इति तस्माच्छ्रुत्वा । "सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने" ! इति दौर्लभ्यसूचनार्थैकवचनम् । न ते विक्रियामाप्नुवन्तीति-अन्वयेन निर्दिशति ( तत इति ) । अधिकारितायां संशय एव प्रतिरुणद्धि । तदभावेऽश्रद्धधानताया अज्ञतायाः स्वतो नाश इति फलितम् ।

---

* 'विजुगुप्सते' इत्यपि पाठः ।

यच्छब्दपरामृश्यस्य तच्छब्दपरामृश्यस्य चाभेदमाह–'यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानमिति। आत्मशब्दोऽयं ब्रह्माह। "आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्" इति श्रुतिः। आत्मनि सर्वाणि भूतान्यनुपश्यति, य एवं विजानातिममांशस्याधिकरणं ब्रह्म इति, सर्वेषां भूतानामधिकरणमात्मेति। पश्चादन्यत्रापि पश्यति सोऽनुपश्यतीत्युच्यते। "यस्मिन् द्यौः पृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः"। "आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरः" इति हि श्रुतिः।

आत्मनि तथा ज्ञातेऽथान्यत्र तज्ज्ञानं गुणवदित्येवमाह-ऋषिः–"सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति सर्वेषां ब्रह्माधिकरणम्। अप्सु योनीनां यादसामाप इव सर्वेषां परायणं ब्रह्म, न तद्विना केषाञ्चिन्मम चावस्थितिरिति–स्नेहातिशयवन्तो ये परब्रह्मणि। "अभयं सत्वसंशुद्धि र्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः" इत्यादिना भगवता ये गीतायामुक्ताः, "तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्" इत्यादिभिर्भगवता कपिलेन (च) देवहूतिं प्रति निर्दिष्टास्ते सन्तः, इत्येवं तेषां लक्षणम्।

अपरमाह—'सर्वभूतेषु चात्मानं' योनुपश्यति। परमात्माऽयं सर्वत्र तिष्ठति नियमनार्थम्। सर्वेषां कृतिस्तत्प्रयोज्या। शिक्षणे व्यापृतस्योपाध्यायस्यावलम्बितडिम्भाशयस्य प्रयत्नजन्यक्रियाधीना बाल-कृतिर्या फलकोपरि, सा वस्तुतो न तदीया, अपि तु– उपाध्यायस्येतिवत् सर्वकृतिः परब्रह्मण एव। "यदनुग्रहतः सन्ति, न सन्ति यदुपेक्षये" ति सिद्धान्तवाक्यात्। जीवकृतातिक्रमेऽपि प्रसन्नमनसो ये, तेष्वपि कश्चिदेव, सर्वभूतेषु चात्मानं योनुपश्यति–इति (सर्वं) सोढव्यम्। येषां-स्वप्रेष्ठस्य कृतिरियमित्यपकारत्वेन गणनीया न भवति स्नेहोपमर्दभियेति–ते तथा। तदेतदाह श्रुतिः—

"यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"। "यो विज्ञानमन्तरो यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इति

इदं हि तेषामपरं लक्षणम्। तदत्र स्मृतिराह—

"सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः, निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः"। "ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः"।

इति तत्सङ्गेन संशयमपनोद्य यथाकथञ्चित् परमात्मा संसेव्य इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

अथ संशयाभावोत्तरकालिकमधिकारिणां फलप्राप्त्यव्यवहितकालात्पूर्वं योग्यता-व्यञ्जकत्वेन जायमानं प्रेमाज्ञानशोकमोहाद्यभिभूतं चेत्तर्हि-तद्विज्ञानं न स्यादिति-शोकमोहाद्यभावं तत्सहकारिणमपि तल्लक्षणत्वेनाह-

"यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ॥
तत्र को मोहः, कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" ॥ ७ ॥

'यस्मिन्'-इति पूर्वोक्तसंशय-नाशे सति 'विजानतः'-अतिरोहित-विज्ञानस्य। "आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात्सृज्यं यदन्वियात्, पुनस्तत्प्रति-संक्रामेद्यच्छिष्येत तदेव सद्" इति हि विज्ञानम्, तद्वत इत्यर्थः। 'विजानत' इति पदेनान्तःकरणस्य सत्त्वैकरूपतोक्ता, अकामहतता च। तस्य स्वसम्बन्धित्वेन स्फुरति आत्मैव ब्रह्म, न तु देहमनःप्राणजीवादिः।

'सर्वाणि भूतानि' सन्ति सत्तावन्ति, न तु निःस्वभावाः। क्षणिक-विज्ञानवादी शून्यमेव तत्वं मनुते। "सर्वमात्मेत्येवोपासीत" इत्यादि, सिद्धवत्कारेण निर्देशोऽयम्-'अभूत्'। सर्वपदार्थेषु जडता न भासतेऽपितु-इतरौ चिदानन्दौ। तदत्राम्नायो भवति—"तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यतः एवं मन्वानस्य एवं विजानतः" "आत्मत" एवेदं सर्व मिति।

तस्यैकत्वमनुपश्यतः सम्बन्धी 'मोहः शोकश्च कः'। किंशब्दोऽयं पृच्छायाम्। तस्य सर्वथा तिरोभाव एवास्माकं मतेन। नास्माकं तस्य विज्ञानम्, स्मृतिरनुभवो वाऽस्ति। अथापि कस्यचित्तदीयः शोको मोहश्च ज्ञातश्चेत्तर्हि तस्य स्वरूपं कार्यं वा नेन व्याख्यातव्यमिति पृच्छति-ऋषिः कोमोहः, कः शोको 'इति' उपलक्षणतयैतावुक्तौ।

अत्र ब्रह्म-विज्ञाने जीवानां षड् धर्मा बाधकाः, भगवद्धर्मप्रतिपक्षाः। शोकः ऐश्वर्यस्य, हर्षो वीर्यस्य, द्वेषो यशसः, लोभः श्रियः, मोहो ज्ञानस्य, मदो वैराग्यस्येति तदभाव उपलक्षणविधयोक्तो ज्ञेयः।

'एकत्वमनुपश्यत' इति– एकत्वमनानात्वम्, भगवतः साक्षात्कारानन्तरं साक्षात्कुर्वतः। तत्रेयान्विशेषः— परमात्मैकत्वं सर्वत्र पश्यति, तदन्वयं पश्यति, तस्यैकत्वमनुपश्यत इति। शोकमोहादयः सुखधर्मतिरोभावरूपाः मोहशब्द-साहचर्यादन्यार्थाद् व्यावृत्ताः। ब्रह्मधर्मोयमेकत्वं तयोरन्तर्धायकम्। तच्च ब्रह्मानुभवे भवति, न तु जीवात्मानुभवे, स्वात्मनि स्फुरितमन्यत्रापि "प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा" इति रीत्यैकत्वनिश्चयं जनयति- इत्युक्तम्। अनुषङ्गवद्बुद्धीनां स्वात्म-जगतोः संवेदनाभाव-दशेयं वर्णिता। तथा चात्रापि निगमो भवति—

**"भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"। "तरति शोकं, तरति पाप्मानं, गुहा-ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति"। "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"। "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदऽइदं ब्रह्मेदं क्षत्रं, इमे लोकाः, इमे देवाः, इमे वेदाः, इमानि सर्वाणि भूतानि,** इदं सर्वं यदयमात्मा" इति।

'इदं' ज्ञान-विषयविषयिभावाभावाद्धि भवति, विषयविषयिणोरेकत्वेनाऽनाहार्येण, अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितेनाक्रान्तत्वात्। एकेऽनानात्वेऽन्ये यत्र तदेकत्वम्, तेन सह वा 'पश्यत' इति।

एवं शुद्धाद्वैतवादस्तत्त्वनिरूपिणः संस्फुरतीति सिद्धम्। शोकमोहनाशश्चावान्तरं फलम्। तथाचाचार्याः— "ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्" इति॥ ७॥

तस्यैवमवस्थां प्राप्तस्य मुख्यं फलमाह—

**"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"॥८॥**

'सः' इति सर्वात्मभावं प्राप्तः पूर्वत्र निर्दिष्टः परामृश्यते । 'शुद्ध' ब्रह्माक्षरं 'पर्यगात्' परितः वर्जयित्वा परं ब्रह्म प्राप्नोति । परब्रह्म-धर्मोऽत्र व्यापकत्वम्, तज्जीव आविर्भूतं परब्रह्मावेशे सति, परब्रह्मानन्दो भोग्य इति नास्य फल-दित्सयाऽक्षरे परमसाम्यं परब्रह्मणा दीयते । सर्वोत्तमस्याधिकारिण-स्तस्फलं न भवति, अक्षरसाम्यस्य परब्रह्मानन्दाशनापेक्षया हीनत्वात् । तदाहर्षिः— "उपासते पुरुषं येह्यकामास्ते शुक्रमेतदति वर्तन्ति धीराः" इति ।

ज्ञानिभ्यो विलक्षणतास्योच्यते– 'शुक्रं' इत्यादिना । शुक्लं सत्वम् । शोचतेर्ज्वलति कर्मणोरक्, विकृतत्वात् शुक्लमविकृतं शुक्रं, शुक्लाद्विलक्षणं ब्रह्म शुक्रम् । गुणग्रामः कायः, चिनोतेः कायः । जनिप्रभृतिभावविकारयुक्त-मिदम् । (ब्रह्मतु) अकायम् एतेन निर्गुणतोक्ता ।

प्रकृतिवस्तु सव्रणं कालकृतक्षतसद्भावात् ब्रह्मत्वव्रणंकाल-स्पर्शा-भावात्, ( इति ) प्रकृतितो वैलक्षण्यं निरूपितम् ।

स्नावानः परिच्छेदका अवयविनः शरीरस्य, तेन साविलत्वात्परि-च्छिन्नम् स्नायवः–स्नावानः ततोमत्वर्थीय इत्वच् । ते हि त्वगन्तःस्थानाम-स्थ्नां परिच्छेदकाः, रसलोहितादिवहाः सच्छिद्राः । ब्रह्माण्डवपुषः पुरुषस्य सत्वरजस्तमांसि, तद्भेदाः– अन्तकरणप्राणेन्द्रियदेवतामात्राः स्नावप्रायाः सावयवत्वात्सविशेषात्पुरुषवपुषः । अक्षरं'अस्नाविलम्' । छान्दसं रत्वं विलक्षणत्व-द्योतनाय । ततो विलक्षणमस्नाविरं, निरवयवमित्यर्थः । अस्नाविलत्वात्सावयवत्वाद्वैलक्षण्यम् ।

जगत्तु पुण्यपापविद्धम् । कर्म विधिनिषेधात्मकं तद्धेतुकम्, पुण्यपापविद्धं कर्मविद्धम् । माया हि– भगवतः शक्तिर्व्यामोहिनी या हि विद्याऽविद्यात्मिका,– इत्याविलत्वादशुद्धा भवति । निर्मायं 'शुद्धं' प्रगट सच्चिदानन्दात्मकं गणितानन्दकं बृहत्,अक्षरं ब्रह्म आनन्दांशप्राकट्यात् । यत्तिरोहितानन्दं तदशुद्धम्, आनन्दांशस्याप्राकट्यात् । ब्रह्म तु'शुद्ध'मानन्द रूपमिति साकारम् । "तदैक्षतेति" श्रुतौ या ईक्षा तया विशिष्टं ब्रह्माशुद्ध-मिव, ततः पूर्वं शुद्धम् । "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" इति श्रुतेः ।

तेन सर्वथा जडजीवात्मभ्योऽपि विलक्षणमक्षरात्मकं यद् ब्रह्म 'तत्पर्यगात्' 'शुद्ध-मिति माया'सम्पर्करहितम्। "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इति हि श्रुतेः। स्मृतिरपि भवति— 'यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः" इति। समायं पापसंपृक्तमिदं हि सर्वं, न तत्तदाह— 'अपापविद्ध'मिति। अपहतपाप्मेति। "धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधामे"ति निगमः।

अपर आह— गुणो दोषाभावश्चोक्तो भवति। स्वरूपलक्षणान्याहास्य-'अकाय' मिति। चिनोतेरयं कायो भवति, उपचीयत इति। नेदमुपचीयते। "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते" इति तत्र श्रुतिः। अनन्ततोक्ता भवति। 'अव्रण'मिति- अपक्षयाभावः। "स एष नेति नेतीत्यात्माऽशीर्यो न हि शीर्यते" इति हि श्रुतिः। कालानवलीढतोक्ता भवति। 'अस्नाविर'मिति स्नाविलं यत्ततो विलक्षणं भवति। शिरा-राहित्येन सावयवत्वाभावः। स्वावयवैः स्वस्यापरिच्छेद उक्तो भवति। "जलं तदुद्भवैश्छन्नं लोके दृश्यत" इति। शिराभिः प्रत्यहं रसप्रवृत्या तत्संसर्गद्वारा परिणामसंभावनोदयादित्यस्नाविरमित्युक्तम्। "अविनाशी वारेऽयमात्मा, अनुच्छित्तिधर्मेति" श्रुतिर्भवति।

एवं त्रिविधाऽनित्यता परिहृता भवति— अकायमिति— परिणामानित्यता, अव्रणमिति—प्रध्वंसानित्यता, अस्नाविरमिति—संसर्गानित्यता। तदेवं नित्यता— प्रसिद्ध्या कालकर्मस्वभावानामप्रवृत्तिस्तत्रोक्ता भवति।

तथाहि- अव्रणमिति- कालकृतक्षताभावः। अकायमिति- परिणामकार्यकस्य स्वभावस्यासम्बन्धः। अपापविद्धमिति-कर्मासम्बन्धः। एवमृषिराह "येनावृतं विश्वमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालोगुणी सर्वविद्यः। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति। शुक्रमिति- शुचं प्रकाशरूपां विद्यामपि क्रामतीति शुक्रम्। विद्योपाधिपरमेश्वरभावादप्यतीतम्। परमेश्वरो हि स्वतः प्रमाणभूतैः निश्वसितात्मभिर्वेदैर्निर्देश्यः, तद्विलक्षणमनिर्देश्यम् "तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्" इति तत्राम्नायो भवति।

तथा चास्योपबृंहणं भवति-' प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च काल-विक्रमः" इति

शुद्धमपापविद्धमिति-चिन्मात्रता, अथ सत्यता-अकायमव्रणमस्नाविरमिति, शुक्रमित्यानन्दरूपतोक्ता भवति ।

इत्येवं रूपस्याक्षरस्य भक्तकर्तृकोऽतिक्रम उक्तोऽर्द्धर्चेन ।

अथास्मै पुरुषोत्तमेन क्षराक्षरातीतेन प्रसाधितान् कामान्नित्यांस्तद्भोगार्थानाह— "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" इति । 'परिभूः' सर्वस्य परिभविता क्षराक्षरातीतः फलरूपः परमात्मा ।

"एष हि द्रष्टा, स्पृष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते" ।

इति हि निगमो भवति । अक्षराख्यस्य स्वधाम्नः स्वामीति तत्र लब्धप्रतिष्ठः । 'स्वयंभूरिति' स्वयमेव भवति । "नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इति हि श्रुतिः । स्वप्रियभक्तकृते स्वयंभूरिति-साधनरूपतोक्ता । सर्वजनकतया सर्वभजनीयता व्याख्याता । "तं देवतानां परमं च दैवतम्" इति तत्रागमः । परिभूरिति-फलरूपतोक्ता । फलमेव हि स्वप्राप्त्यर्थं सर्वान्परिभवति । स हि अगणितानन्दभावात्फलरूपो भवति-"यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इति श्रुतिरेतदाह ।

'याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधादिति'- याथातथ्यतः=येन प्रकारेण स कामयते, तेनैव प्रकारेणार्थान् विदधाति(स्म) । 'अर्थान्'इत्यनर्थाः परिहृताः । अनर्थानप्यर्थत्वेन व्यदधात् । सम्पादने तस्यायं स्वयं कर्ता भवति, न करणमपेक्षते । "एको बहूनां यो विदधाति कामान्" इति हि निगमः । "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यपि । "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे" इति च ।

'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' । ल्यपोलोपे इति विभक्तिः तेन नित्याः समाः । रसमेवाजनकत्वात्समा उच्यन्ते । माससमुदायात्मककालविशेषाः समाः, ता उपेत्य व्यदधात् । इत्यर्थेषु कालास्पर्शो व्याख्यातो भवति ।

'स्वयंभूरिति'-सत्यता ब्रह्मणो निरुक्ता । कविरिति-क्रान्तदर्शित्वेन ज्ञानरूपता । उत्तरोत्तररसवृद्ध्या कामानेव पुष्णाति । परिभूरिति-आनन्द-

रूपतया साकारता । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति"। "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" इति हि समाम्नायः । तेन 'स ब्रह्मणा निष्पादितानर्थांस्तेन सहैव भुंक्ते' इत्यवधारितं भवति । तथा हि श्रुतिः—'सोश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति"।

एतादृशभोगः परमानुग्रहेणैवाधिकारिविशेषस्य । यमिच्छति भूमा तस्मा एव ददाति । "भूमैव सुखं नाल्पे सुख"मिति श्रुतेः । सर्वेभ्यो बहु यत्तत् । 'परिभूः' (इति) पुंस्त्वेन निर्देशः स्वातन्त्र्यायेति ।

तद्धर्ममाह-मनीषीति । मनस ईषा निग्रहो मनीषा । सा अस्यास्तीति मनीषी । सत्यसंकल्पः सत्यसंध इति वा । यमेव फलदित्सयाऽभिप्रैति तमेव फलेन योजयति नान्यमिति । "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति तत्रागमो भवति ।

इत्येवमधिकारितो विषयतः, फलतः, साधनतश्चभक्तिमार्गस्योत्कर्षो निरूपितः ।

अत्र श्लोका भवन्ति—

स्वतन्त्रकर्ममार्गस्य निन्दा निन्द्यफलं यतः ॥
आत्मज्ञानं विना तस्याप्येषा नाना विदं हरेः * ॥१७॥
तुच्छं फलं यतस्तस्य तत्रोक्ता स्व-प्रमाणता ।
कर्माङ्गमात्मज्ञानस्य तेन सत्त्वगुणोदयात् ॥१८॥
ब्रह्म ज्ञानस्य तच्छेषस्तेन ब्रह्म-सुखोदयात् ॥
इति ज्ञानं च कर्मापि सापेक्षं, न स्वतन्त्रता ॥१९॥
तत्रेति, निर्णयःश्लोकैस्त्रिभिरत्र निरूपितः ॥
काम्यकर्मफलं वेदे विश्वासोत्पादनाय हि ॥२०॥
न तत्फले स्वार्थ-बुद्धिस्तदुक्तेर्भावतोऽन्यतः ॥
अपेक्षितं लौकिकन्तु कार्यं काम्याविरोधि यत् ॥२१॥

---

* हरेर्ज्ञानं विना=इत्यर्थः

तत्रापि पुरुषार्थत्वं प्रमाणेन निवारितम् ॥
अङ्गभूते कर्ममार्गे न स्वतन्त्रं फलं स्मृतम् ॥२२॥
एषाधीनं तु, ज्ञानाङ्गे भक्त्यङ्गे चापि भेदभाक् ॥
इति श्लोकैस्त्रिभिः सर्वं मोपपत्तिक्रमीरितम् ॥२३॥
स्वतन्त्रे ज्ञानमार्गे तु भक्त्यङ्गेऽपि फलं हि यत् ॥
तद्भिन्नं भक्तिमार्गीय फल-साम्यं न तत्र हि ॥२४॥
इति द्वाभ्यां विनिर्णीतं कर्मणो ज्ञानतस्तथा ॥
साधनेन फलेनापि विशिष्टा भक्तिरुत्तमा ॥२५॥
तथैव जीव-स्वार्थो हि नान्यथेत्यष्टभिर्मतम् ॥

अथ यदपेक्षया भक्तिमार्गस्योत्कर्षस्तौ मार्गौ निरूप्येते ।

तत्र तावत्कर्मसहितेन ज्ञानेन मोक्ष इति सिद्धान्तः, स च ब्रह्मभाव एव । तत्र 'केवलकर्मणा एव श्रेय' इति वदतां बाधकमाह—

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ॥
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः" ॥ ९ ॥

विद्या हि ब्रह्मशक्तिः पञ्चपर्वात्मिका । "वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे, पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत्" इति, तद्भिन्ना अविद्या नित्यकर्मात्मा जन्मलक्षणा । तया सत्वगुणाविर्भावेनाज्ञाननाशः । यतः सत्वं द्विविधम्-शास्त्रसम्बन्धि, ब्रह्मसम्बन्धि च । तत्र शास्त्रसिद्धेन सत्वगुणेन न ज्ञानमुपस्थापयितुं शक्यते । यस्मिन्क्षणे शास्त्रानुसन्धानपूर्वकं तदर्थानुष्ठानं भवति, तदैव तत्सत्वमाविर्भवति, तस्य तमोरजोभ्यामभिभवश्च जायते । नित्यकर्मानुष्ठानेन तादृशं सत्वमाविर्भवति यदा, तदैव लोकादिसुखजनकत्वेन तस्य नित्यकर्मणस्तुच्छफलजनकत्वमिति ।

एवं निन्द्यते फलकथनपुरस्सरम् :— 'येऽविद्यामुपासते तेऽन्धंतमः प्रविशन्ति' । 'इदमेवोत्कर्षवन्नान्यत्तदेवादरणीयं सेव्यञ्च मया' इति ज्ञानव्यञ्जकक्रियाविशेष उपासना । नित्यकर्म हि- उक्तं सत्व-

माविर्भाव्य स्वर्गादिसुखं जनयति, इति कारणमेव फलरूपमिति मन्वाना ये, तेऽन्धंतमः प्रविशन्ति अध्यासस्यावशिष्टत्वात्कर्मानुष्ठानेनाविर्भूतं सत्वं रजस्तमोभ्यामभिभूतकल्पत्वेनान्यथाज्ञानं जनयति, तदेवान्यथाज्ञानमन्धंतमः। न हि सुवर्णनिगडैर्बद्धो राजाऽबद्ध इति न व्यपदिश्यते। अत एव सात्त्विकत्वेऽपि देवानां रागद्वेषादयः स्वर्गे लोके श्रुतिपुराणादिषु प्रसिद्धाः। इति तत्र पुरुषार्थता न मन्तव्या, अपि तु परब्रह्म-भजने यथा तस्य सहायत्वं स्यात्तथाऽनुष्ठेयम्। तदा कर्मणां जनकता-स्वभावो व्यापादितो भवति।

तत्र ज्ञात्वा शास्त्रार्थानुष्ठानेन सम्पन्नमात्मज्ञानं यदाविर्भवति, तदाऽज्ञान-नाशात्सत्वैकरूपताऽन्तःकरणस्य भवति। तदैवात्मज्ञान-जन्यमात्मसुखं, "यन्नदुःखेन संभिन्न" मिति वाक्यशेषोक्तं भवति। अत एव श्रुतौ क्वचित्कर्म गर्हितं क्वचित्स्तुतम्। तथा हि—

"प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति" "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्य-चितो लोकः क्षीयते" "तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि, तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके"॥ "एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः"। "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-याजिनः सुकृतं भवति"

इति विद्यासहकृतं कर्म प्रशस्यते, तस्या विनाभूतं निन्द्यते।

अथ नित्यकर्मवद्विद्यायामपि निन्दामाह— "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः" इति। अत्र विद्याऽऽत्मज्ञानं नतु ब्रह्मज्ञानं, निन्दावचनात् तद् ब्रह्मसत्वस्य जीवे समावेशो भवति, तदपि नित्यकर्मवदन्यस्योपकाराय। आत्मज्ञानं हि केवलमज्ञान-निवर्तकम्, न तु भेद-निवर्तकम्। तन्निवर्तकं

तु ब्रह्मज्ञानम्। स्वफलोपकारकत्वेन तद्यथा स्वतः पुरुषार्थरूपतया भातं तदा निन्द्यं भवति। इति निन्दामाह- 'ये विद्यायामेव रताः' न ब्रह्मज्ञाने। ते तदपेक्षया 'भूय इव' न तु भूयः। अल्पं जीवात्मस्वरूप-ज्ञानं यत्स्वात्म-सुखमेव जनयति। तत्स्वात्मसुखं तम एव, भेदबुद्धेरनाशात्। इति तत्तमस्ते प्रविशन्ति। तस्मादात्मज्ञानवताऽग्रे ब्रह्मज्ञानं सम्पादनीयं न तु आत्मज्ञान एव रतिः कार्येति। यतः सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्माद्वैते तात्पर्यम्। तस्य स्फुरणं भेदनाशं विना न भवति। ब्रह्मज्ञानेन भेदबुद्धौ नष्टायां तत्सम्भवात्।

तथा ह्यत्र श्रौतं भवति—

"यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" ॥ एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः" इति। "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति। "स होवाच गार्ग्यो य एवाऽयमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास" इति "स होवाचाजातशत्रुर्मा एतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति अहमेतमुपास" इति। "स य एतमेवमुपास्ते आत्मन्वीह भवति, आत्मन्वीहास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः।" इति।

इति-आत्मज्ञानस्य तुच्छमेव फलम्।

तस्मान्न केवलेन कर्मणा नाप्यात्मज्ञानेन केवलेन मोक्षः। इत्युभौ समुच्चितौ ब्रह्मज्ञानं जनयतस्तेन ब्रह्मानन्द-प्राप्तिरिति। तस्मात्सुष्ठूक्तम्— "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रता" इति। 'ततो भूयो' यत् ब्रह्म-ज्ञानविरहितं केवलमात्मज्ञानं तत्तम इव' न तु तमः। तस्य यत्फलं तदपि

तम इव, क्रममुक्तिस्तेन, न तु सद्योमुक्तिरिति निन्द्यते, तस्या एव पुरुषार्थत्वात् ॥ ६ ॥

तदेवं कर्मात्मज्ञानमार्गयोः फलं भक्तिमार्गफलाद् हीनं तदा तज्जनकानि साधनानि स्वत एव हीनानि, असहायशूरता चानयोर्नास्ति। तदत्र निगमः—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन" इति निरूपितम्।

अथोक्तेऽर्थे प्रमाणापेक्षायामन्यकथनमुखेन स्वस्य प्रमाणान्तरानपेक्षतामाप्तशब्दापेक्षताञ्च बोधयितुमाह :—

"अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ॥
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे" ॥१०॥

'विद्याया' इति शेषषष्ठी। विद्यासम्बन्धिफलमन्यदेवाहुः, नतु आत्मसुखमपि तु ब्रह्मज्ञानं तस्यैव तदङ्गत्वात्। तथाऽ'विद्यायाः'। अविद्याविलक्षणस्य नित्यकर्मणः फलमन्यदेवाहुः। सत्वगुणाविर्भावेनात्मसुखं नतु लौकिकम्। स्वर्गादिफलस्य योग 'एवकारेण' द्योतितो भवति, आत्मज्ञानेन फले व्यभिचाराभावात्। 'आहु'रिति तेषामप्यन्यप्रोक्तस्यावगमः, नतु स्वेन्द्रियविषयं तत्तेषामित्युक्तम्। अन्ततोगत्वा तेषामपि शब्द एव प्रामाण्यं पर्यवसितं भवति। बहुवचनं तु बहूनां सम्वादाय। स्वस्य प्रमाणान्तरानपेक्षता व्याख्याता। कर्मणि तु यथार्थज्ञानाभावे फलव्यभिचारोऽपि संभवति-इति, एवकारोनोपात्तः।

'इति शुश्रुम' वयं वेदाः। तेन वेदपुरुषता व्याख्याता। तत्र कर्मकाण्डायां कर्म निर्देष्टव्यं तत्विवितिनोक्तं प्रकारं जानीहि। 'धीराणा'मुक्तोऽयं प्रकारः। धीरा ध्यानवन्तः, ब्रह्मध्यानेन पूतमनसः। तेषां प्रकारं 'शुश्रुम' इति श्रुतिरूपतैवोक्ता तेषां प्रकारस्य लोकोत्तरत्वार्थं, तेषां लोकोत्तरत्वमाह-'येनस्तद्विचचक्षिरे'। ये धीरा न अस्माकं प्रतिपाद्यत्वेन सम्बन्धि तत् ब्रह्म "ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" इति 'विचचक्षिरे' दृष्टवन्तः। व्युपसृष्टश्चाक्षिर्दृष्टः "विश्वमिदं विचष्ट" इत्यादिषु। "कश्चिद्धीरः

प्रत्यगात्मानमैक्ष''दिति श्रुतावावृत्तचक्षुष्ट्वं धीरस्योक्तम्, तदेवमुक्त्वा द्योतितम्।

तथा च वेदार्थं ब्रह्मणः साक्षात्कर्तृत्वेन ते महानुभावाः ध्यानपूतमनसः, तेषां ध्यानं वेदार्थस्य साक्षात्काराय। ते यत्समाधिनाऽपश्यँस्तदेव वयं शुश्रुम। स्वयमनुभूतस्य परमुखात्पुनः श्रवणेन वस्तुयाथार्थ्यं निर्णीतं भवति। एवं वेदानां सिद्धता व्याख्याता— "अनन्ता वै वेदा" इति। अनन्तता च 'शुश्रुम' इति बहुवचनेन।

तथा च धीराणां समाधि-सम्वादपरिगृहीता वेदा एव फलभेदे गमका इति भावः। धीराणामन्तःकरणस्य प्रामाण्यं न स्वतन्त्रमपि तु ब्रह्मात्मानुभवमुखनिरीक्षकत्वेनैव। तथा वेदानां प्रामाण्यं ब्रह्मप्रतिपादकत्वेनैव, न तु कर्मात्मज्ञानयोः प्रतिपादकत्वेनेति।

नित्यकर्मप्रतिपादकाः पूर्वकाण्डात्मका वेदाः "स्वर्गः सत्वगुणोदयः" इति वाक्यात्सत्वगुणोदयार्थं नित्यकर्म प्रतिपादयन्ति। नित्यकर्मभिर्यथावदनुष्ठितैर्यज्ञस्वरूपिणोऽभिव्यक्तिः स च सिद्ध एव न साध्यः। "अग्निहोत्रमपश्यत्", "स मन्त्रमपश्यत्"- इत्यादिभिस्तस्य सिद्धवन्निर्देशात्। कर्मफलार्थः पुरुषो यथा तीर्णशोक, आत्मवान्, ब्रह्मानन्दफलार्थः, "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"- इति। "यन्न दुःखेन सम्भिन्न"मिति वाक्यशेषोक्तमात्मसुखं स्वर्गः, स"चास्यैवानन्दस्यान्यानि"० इति श्रुतेः ब्रह्मानन्दोपजीवक इति- आनन्दमयब्रह्मप्रतिपादकत्वं पर्यवसाने सर्वस्य वेदस्येति निष्कर्षः। 'तत्' शब्दार्थो ब्रह्मेति द्योतितम् ॥१०॥

अथ 'ज्ञानकर्ममार्गयोरसहायशूरता नास्तीति' उक्तं तयोः सहत्वेऽनमाह परस्परोपकारत्वाय—

"विद्यां चाविद्यांञ्च यस्तद्वेदोभय ँ सह ॥
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" ॥११॥

पूर्वत्र श्रुतौ यत्कर्मणोऽन्यत्फलमुक्तं तथा ज्ञानस्य, तद् दर्शयति- 'विद्याम्'। चकारात्तत्साधनानि गुरुपसंपत्त्यादीनि 'अविद्याम्' नित्यकर्म-

रूपां चकारात्तत्साधनानि । तदुभयं यो वेद । सह इति हर्षे । अविद्यया नित्यकर्मणा मृत्युं दुःखं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमात्मसुखमश्नुते । दुःखाभावः सुखञ्च पुरुषार्थद्वयम् । तत्र दुःखाभावोऽविद्यया । सुखं विद्ययाऽश्नुते । विद्याविद्ये ब्रह्मशक्ती बन्धमोक्षकार्ये । कर्मणात्मज्ञानं सम्पाद्य दुःखाभावः कर्तव्यः, आत्मज्ञानेन च ब्रह्मज्ञानं सम्पाद्य सुखाशनं कार्यमिति ।

एवं कर्मज्ञानमार्गयोः फलं भक्तिमार्गाधीनमिति व्याख्यातम्, उभयोरन्योन्यसहायकत्वञ्च । कर्म न चेत्क्रियते तर्ह्यात्मज्ञानाभावे ब्रह्मज्ञानं न स्यात् । ब्रह्मज्ञानाभावे तु कर्मणां जनकता-स्वभावो न व्यपैति, तदर्थं ब्रह्मज्ञानमपेक्षितम् । तेन दुःखाभावः सुखञ्चेति द्वयं तदैव भवति । एतेन दुःखाभावो न पुरुषार्थोऽपितु तत्सहकृतं ब्रह्मसुखम् । स दुःखाभावो नान्तरायकः, नान्तरीयकं न प्रतिबन्धकम् । प्रतिबन्धकस्यैव हेयत्वात् । "न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया" इति न्यायेन दुःखाभावस्य हेमविकृतिवन्नान्तरीयकत्वात् । इति — अर्चिरादिमार्गस्य फलमेतेन व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

ननु- अत्यन्तबहिर्मुखैर्लौकिकफल-प्राप्तिं विना विश्वासाभावात्कर्म कर्तुं न शक्यते, विनाशसंभवात् । तदर्थं हि- एवं वक्तव्यम्— वेदोऽत्यन्तबहिर्मुखानां स्वस्मिन्विश्वासमुत्पादयितुं काम्यानि विहितवान् , तदनुष्ठानेन लौकिकानां लौकिकफल-प्राप्त्यसम्बादान्नित्यकर्मार्थे प्रवृत्तिर्युज्यत इति, तदा लौकिकानां लौकिकफल-प्रापकत्वेन पुरुषार्थ-साधनता भ्रमो भवेत्, तन्निवर्तयति तत्र निन्दां प्रस्तुत्य—

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याᳪरताः" ॥१२॥

येऽसंभूतिमुपासते तेऽन्धं तमः प्रविशन्ति । नन्विदं किमर्थमुच्यत इति चेद्वदामः— लौकिकानां लौकिके फले पुरुषार्थता-बुद्ध्यपेक्षया काम्यफले पुरुषार्थता-बुद्धिः साधुरित्येतदर्थमिदमुच्यते–इति । 'असंभूति'-मित्यत्र भवतिरयं सन्मार्गे वृत्तिमाह "यो वै भवति, यो वै श्रेष्ठतामश्नुते, स वा अतिथिर्भवति" इति श्रुतौ तथैव भवत्यर्थो भवति । समीचीना

भूतिः संभूतिः, श्रुतिस्मृतिसदाचारानुकूला सन्मार्गवृत्तिः । तद्विरुद्धा असंभूतिः प्रावाहिकाणां वृत्तिः । सा भवति- "खञ्जये पिञ्जये मोक्ष;" इति मिथ्यादृष्टीनामिव । तां य उपासते तेऽन्धं तमः प्रविशन्ति । उपासनानामेयमिदमेवोत्कर्षवन्नान्यत्तदेवादरणीम् । यदिति ज्ञानव्यञ्जको मानसक्रियाविशेषः, तद्वन्तो ये ते तथा भवन्ति । ज्ञानेनापि सर्वथाऽनपनोद्या स्वरूपविस्मृतिनामाऽधमगतिर्नामान्धं तमः, तां प्रविशन्ति ततो न बहिर्गच्छन्ति- इति तां परित्यज्य संभूत्यामेव स्थातव्यमिति भावः ।

अतः परं काम्यकर्मणि पुरुषार्थसाधनता-भ्रमं व्यावर्तयितुं तन्निन्दामाह- 'ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्या ँ रताः' इति । येऽन्धं तमः प्रविशन्ति तेभ्यो भूय इव न तु भूयः। पञ्चपर्वाऽविद्यालक्षणं तमः । शरीराध्यासादि स्वात्मविस्मृत्यन्तं विद्ययापनोद्यं तमः फलं प्रविशन्ति । तान्निर्दिशति— 'य उ संभूत्याँ रता' इति । श्रुतिस्मृतिसदाचारानुकूला सन्मार्गवृत्तिः संभूतिस्तत्र रतास्तामेवेष्टसाधनरूपां मन्वाना ये भवन्ति, तेऽल्पं तमः प्रविशन्ति- इति- बोध्यम् । धूममार्गस्य फलमेतेन व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

एवं लौकिककर्मापेक्षया वैदिकं काम्यमपि वरं, परं तत्र पुरुषार्थसाधनता-बुद्धिर्न कार्या, अन्यथार्थत्वात् । अत्र प्रमाणापेक्षायामन्यकथनमुखेन प्रमाणमाह । स्वस्य प्रमाणान्तरानपेक्षतां बोधयितुं श्रुतिराह—

"अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ॥
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे" ॥१३॥

संभवादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । संभवमनुसृत्य जायमानं फलमिति शेषपूरणम् । 'अन्यदेवाहुः'—यन्नित्यकर्माङ्गं श्रद्धानुरूपं, न तु पशुवृष्ट्यादि, तदेवाहुः । फलस्य योग एवकारेण द्योतितो भवति । तदत्रागमो भवति—

"तद्य इह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजायन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते" इति ।

तदत्र स्मृतिरपि भवति—

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥ इति ।

तस्य नित्यकर्माङ्गत्वात्तथा । 'असंभवात्' इति पूर्ववत् । अन्यत् अधमगतिरूपं न तु पशुवृष्ट्यादि । 'आहु'रिति तेषामप्यन्योक्तस्यैवानुभव इत्युक्तम् । अन्ततो गत्वा शब्दमेव प्रमाणत्वेन मन्यन्ते धीराः । बहुवचनं बहूनां सम्वादाय । स्वस्य प्रमाणान्तरापेक्षता व्याख्याता । लौकिकफले व्यभिचारोऽपि संभवतीति एवकारो नोपात्तः । 'इति शुश्रुम' वयं वेदाः, एतेन वेदपुरुषता व्याख्याता । तत्र कर्मसु 'इति' शब्दार्थः प्रकारः । धीराणामिति 'धीरा' इति ध्यानवन्तः, ब्रह्मज्ञानेन पूतमनस उच्यन्ते । तेषां प्रकारं शुश्रुम इति श्रुतिरूपतोक्ता । तेषां लोकोत्तरत्वमाह–'येनस्तद्विचचक्षिरे' 'इति, ये धीराः नः सम्बन्धि प्रतिपाद्यत्वेन शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्य प्रत्याय्य प्रत्यापक-भावस्यैव सिद्धान्तितत्वात् । तत्= ब्रह्मात्मसुखादन्यत्, धूममार्गीयं फलं विचचक्षिरे = अनुभूतवन्तः । इति-व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

नन्वेवं 'लौकिककर्मणः सर्वथा त्यागे कथं केवलेन तेन निर्वाह' इति वदतां मतं निराकर्तुमपेक्षितमात्रकरणं लौकिकस्य काम्योपकारकत्वाय काम्यस्य कर्मणोनित्योपकारकत्वाय च वेदनं, तत्फलञ्चाह—

"संभूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयँ स ह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते" ॥१४॥

न सर्व एवंभूतो भवति, अपि तु 'यः' कश्चिदेवेत्यकवचनम् । संभूतिञ्चेति चकारस्तत्फलं समुच्चिनोति । 'विनाश'ञ्चेति स्वरूपस्यापि प्रच्युतिसाधनं लौकिकं कर्म, तत्साधनानि तदुभयं वेदपुरुषः परस्परोपकारकं वेद । किन्तु लौकिकमाहारनिद्राद्यारोग्यञ्च । काम्योपकारकं काम्यं पशुवृष्ट्यादि काम्यफलञ्च नित्योपकारकमिति (सः) विद्वान् । हेति हर्षे ।

'विनाशेन'विनश्यत्फलकेन काम्यकर्मणा । मृत्युः- "जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः" इत्युक्तलक्षणाऽत्यन्तविस्मृतिः, तां तीर्त्वा 'सम्भूत्याम्'अपेक्षितमात्रकृतेन, आरादुपकारकत्वेन साधितायां सत्यामृतमश्नुते । तरणमत्र व्यवधायकवस्तुनः सम्बन्धमपहाय तदसंसक्तवस्तुप्राप्तिः।

सर्वाध्यासस्वरूपविस्मृतिरूपाऽविद्या हि जीवस्य व्यवधायिकाऽनपनोद्या, तस्याःसम्बन्धमपहाय अपनोद्यायाः प्राप्तिः, तेन तरणेन कृत्वा 'ऋतमश्नुते' ऋतं= सूनृता वाणी वेदरूपा, तदुक्तमपि फलं 'ऋतं' मानसश्रद्धारूपमन्तः करणशुद्धिजमश्नुते । नित्यकर्मश्रद्धाया अङ्गं पश्वादि काम्यकर्मफलं, तदश्नुते-व्याप्नोति । व्याप्तिरत्रोभयविधाऽनुमानरूपा । यद्यत् पश्वादिफलकं तत्काम्यकर्महेतु, यत्काम्यफलहेतुकं नास्ति तत्पश्वादिफलरूपं नास्ति । श्येनादेः शत्रुमरणादि, अग्निहोत्रादेः आत्मसुखादि च दृष्टान्ते । तेन केवल-लौकिकापेक्षया वैदिकं काम्यमुत्तमं, तदपेक्षया नित्यकर्माग्निहोत्रादि लक्षणमुत्तमम् । एतत्सिद्ध्यर्थमेव काम्यविधिः, इति-उक्तम् ॥ १४ ॥

यस्य कर्मणः काम्यमङ्गमुक्तं तस्य फलमविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुत इत्युक्तम् । तत्र कर्मणः फलं स्वत एव विधिमनुगुणीकृत्य विहिताद्भवति, उक्तकर्मानुष्ठानेन परितुष्टाद्देवात्, इति इमां शङ्कां परिहरन्- "फलमत उपपत्तेः" इति न्यायात् यागस्य करणता व्यापारमन्तरा न सिद्ध्यति ; भगवच्छास्त्रेण हि-"इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः" इति वाक्याद् देवता, एतासां प्रीतिर्वा व्यापारः, नत्वदृष्टम्, "तं देवतानां परमं च दैवतम्" इति श्रुत्या परमा देवता परमेश्वरः परमात्मैवेति परितुष्टो देवः फलदाता- इत्याह—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये" ॥१५॥

'पूषन्' "पूष्णो हस्ताभ्या" मिति श्रुतौ कर्मार्हौ दिव्यहस्तौ ब्रह्मणा पूष्णे दत्तौ, तौ स्वधर्मपोषणानुकूलावपि भवतस्तेन पोषणार्थं दिव्यहस्त इति व्याख्यातव्यम् । कार्यविशेषार्थमाविर्भूतं ब्रह्मणो रूपान्तरं पूर्वकाण्ड-प्रतिपाद्यं वा 'पूषन्'शब्देनोच्यते । स्वस्य योग्यतां दृष्ट्वा स्वस्याग्र उपस्थातुं सम्बोधयति, सम्बोधनस्य कार्यार्थत्वात् । कार्यमाह— 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखं पिहितं तत्त्वमपावृणु' इति । हिरण्यं हि ब्रह्मानन्द एव तस्य । "अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति श्रुत्याऽऽनन्दांशस्तत्र निविष्ट इति, स्फुलिङ्गेऽग्निव्यवहारवत्सुवर्णे हिरण्यशब्दवृत्तिरिति न दोषः । तस्यांशभूतमपि स्वर्ग-सुखं हिरण्यं गीयते । तत्प्रचुरं पात्रं

पानसाधनं, भोगवस्तुस्थिति-योग्यं च कर्म । तद्धि यज्ञफलस्वर्गसुखामृत-पाने साधनं भवति, तेन पिहितमाच्छादितम् ।

किं तत्, सत्यस्य ब्रह्मणो मुखम्? क्रियात्मकस्य ब्रह्मणो मुखमुत्तमाङ्ग भोगसाधनं ज्ञानं ह्येव । विषयसुखं हि ज्ञानप्राप्तौ प्रतिबन्धकमिति भावः । तन्मुखमपावृणु=आच्छादनं दूरीकृत्य प्रकटं कुरु । एक एव भवानस्मिन्कार्ये शक्त इति वोधयितुमेकत्वमाह त्व'मिति' ।

नन्वेवं कृते किं स्यादित्याह– "सत्यधर्माय दृष्टये" इति । सत्यस्य क्रियात्मकस्य यद्धारणे साधनमाधिदैविकं रूपं पूर्वकाण्डप्रतिपाद्यम् । 'तस्य दृष्टये' इति वक्तव्ये 'धर्माय दृष्टय' इति निर्देशो विभक्तिव्यत्ययेन । दृष्टिर-नुभवः, तदर्थमात्मज्ञानं सम्पाद्याथ क्रियमाणं कर्म यज्ञाधिदैविकरूपमभि-व्यज्य फलं दिशति– इति भावः । पूर्वकाण्डार्थब्रह्मणोऽभिव्यक्ति-प्रतिबन्धक निरासः, ज्ञानपूर्वकमनुष्ठितकर्म-प्रीत्या पूष्ण एव भवति, इति– उक्तम् ॥१५॥

उक्तमेवार्थं निगमयितुं मुखस्यापावरणे प्रकारविशेषञ्च वोधयितुमाह–

**"पूषन्नेकर्षे ! यम ! सूर्य ! प्राजापत्य ! व्यूहरश्मीन्समूह ॥**
**तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि**
**योसावसौ पुरुषः सोहमस्मि" ॥ १६ ॥**

पूर्वं कार्यविशेषार्थमाविर्भूतं पूर्वकाण्डे प्रतिपाद्यं ब्रह्मणो रूपं पूषेति निर्दिष्टम् । स कथं तद्रूपमिति शङ्का-व्युदासाय तत्र ब्रह्मधर्मानाह–

'पूषन्'–पोषक ! इत्यैश्वर्यम्, 'एक'–इति वीर्यम्, 'ऋषे'–इति यशः, 'सूर्य'–इति श्रीः, 'प्रजापत्य'–इति ज्ञानं 'यम'–इति वैराग्यम् ।

ईश्वर एव हि पुष्णाति–इति 'एक' इत्यसाधारण्यं सर्वेभ्यः, विशिष्टा शक्तिश्चेदसाधारणो भवति, असाधारण एव वीरो भवति । 'ऋषे' इति व्यापकत्वाद्यशस्वी, यश एव हि सर्वत्र व्याप्नोति, इति । सुष्ठु ईरयति इति 'सूर्यः' । न श्रियं विना कस्मिन्नपि कर्मणि प्रवृत्तौतुमुत्साहो भवति । 'प्रजाः' कर्माधीना जीवाः,तानुपदिश्य 'पाति-'इति प्रजापतिः– ब्रह्म, तस्येद-मिति 'प्राजापत्यम्' । कर्मबन्धं निवर्तयितुं ज्ञानं प्रकाशयितुं प्रादुर्भूतम् । 'यम' इति– यमयति सर्वान् आयुर्हरणेन, वैराग्यं सम्पाद्य विषय-पराङ्मुखीकरणं यमनं, तत्कर्ता । 'यम'–इति वैराग्यम् ।

इति ब्रह्म षड्धर्माधारतया 'पूषन्'आनन्दरूपं,'एक'इति ज्ञानरूपं, 'ऋषे' इति सत्यरूपं, 'यम' इति संहारकर्तृ, 'प्राजापत्य' इति पालनकर्तृ, 'सूर्य' इति उत्पत्तिकर्तृ ब्रह्म निर्दिष्टम् । एवंभूतस्त्वं व्यूहरश्मीन्समूह । व्यूहति रचयति जन्मान्तराणि यैस्तानि कर्माणि व्यूहानि, तान्येव रश्मयः, प्रसृतजालवद् बंधनसाधनानि, समूह– एकत्रीकुरु ।

तदत्र निगमो भवति—

"सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति "इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः" "संचकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः" "यामिषुं गिरिशं त हस्ते विभर्ष्यस्तवेति" "ऋचोत्तरे परमे व्योमन्" इति । "जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" "न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य" इत्यादि । तथा "अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" इत्यादि ।

तथाकृते सति यत्सिद्ध्यति तदाह— 'तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि' यत्ते रूपं तत्ते पश्यामि । तथाकृते त्वदीयस्य कल्याणतमस्य रूपस्य दर्शनं भवति। कर्मणा रूपं कल्याणमेव पश्यति, ज्ञानेन तेजः कल्याणतरं पश्यति, भक्त्या कल्याणतमं पश्यति । इत्येवं कथने कर्मज्ञानयो र्भक्तिशेषता व्युत्पादिता, भक्तेरङ्गित्वञ्च । तथादर्शनेन यत्फलं 'तत् ते' तुभ्यमेव दास्यामि, इति आनन्दरूपेण निविष्टो मयि त्वमेव तस्य फलस्य भोक्तेति द्योतितम् ।

अत एवोपनिषदन्तरे परं ब्रह्म प्राप्तस्याधिकारिणो लौकिकशरीर आनन्दरूपस्य ब्रह्मण आवेशः श्रूयते—

"तस्मा द्वा एतस्मादन्योन्तर आत्माऽऽनन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" ।

कर्मप्राप्यं ब्रह्मरूपमिति, ज्ञानप्राप्यं तेजः, भक्तिप्राप्यं कल्याणतमम् । कर्मणा ह्यात्मसुखं, ज्ञानेन ब्रह्मसुखम्, भक्त्याऽनन्तसुखम्, पश्यामी'ति वर्तमान-

निर्देशेन दर्शनस्यानवच्छिन्नता सूचिता। अथ पश्यामीति सर्वदा दर्शन-निर्देशेन जायमानं फलमाह— 'योसावसौ पुरुषः सोहमस्मि'। 'पुरुषः' सर्वारम्भभुवां पुरामुषो 'दाहक' ब्रह्म पुरुषः,यः असौ दूरवर्ती स्वादिगोचरं कर्ममार्गे, तथाऽसौ ज्ञानमार्गे, 'सोऽहमस्मि' भक्तौ। प्रसन्नं ब्रह्म भक्तस्यात्यन्तं सन्निधिं कर्तुमात्मन्याविष्टं भवति, तस्य साक्षात्कारनिर्देशः— 'सोऽहमस्मि' इति । तथाच परब्रह्माव्यतिरिक्तत्वेन स्वस्यानुसन्धानं तत्फलम्, इति सिद्धान्तः।

पूर्वस्मिश्च्छ्लोके ज्ञानाङ्गता कर्मण उक्ता, इह तु भक्त्यङ्गता कर्मण इति विशेषः। पूर्वत्र च 'सत्यधर्माय दृष्टय' इति फलं, इह तु कल्याणतमं रूपं पश्यामि, योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि- इति फलमित्यपि ॥ १६ ॥

ज्ञानाङ्गकर्ममार्गे भक्त्यङ्गकर्ममार्गे च पूष्णः सकाशाद्यत्फलं तन्निर्दिष्टम्, साधनञ्च तदन्तर्गतमेव निर्दिष्टम्। अथ स्वतन्त्रज्ञानमार्गे पराङ्गज्ञानमार्गे च फलं 'विद्ययाऽमृतमश्नुत' इति यदुक्तं तत्र साधनमाह-पूर्वं कर्म हि ज्ञाने स्वरूप-योग्यतां साधयति, तस्यां सिद्धायां फलमुखाधिकार-निर्वाहकानि साधनान्याह। एवं भक्तिमार्गीयसाधनादत्र वैशेष्यं ज्ञातं फलिष्यति—

"वायुरनिलममृतमथेदꣳ भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्लृपं स्मर कृतं स्मर" ॥ १७ ॥

स्वतन्त्रज्ञानमार्गे वैराग्यं साधनं, तत्कथमिति, तत्प्रकारं दर्शयति-सर्वं पञ्चभूतात्मकं तुच्छमेवेति जानीयात्। वायुः प्रसिद्धः, अनिलं तेजः। 'वायोरग्नि' रिति श्रुतौ कारणता तेजःप्रति वायोः प्रतिपादिता। कारणमेव कार्यात्मना परिणतमिति कारणादभेदादनिलत्वेन व्यपदेशः। अमृतं प्राणाप्यायिका आपः सूक्ष्मस्थूलभेदभिन्नाः। सर्वः सर्वमिदं जडं न चेतन मिति जानीयात्। एतावता तुच्छता न भातेति भस्मान्तत्वकथनेन तां दर्शयति- 'अथेदं' भस्मान्त ꣳ शरीरम्' इति। अस्य शरीरस्य पूर्वरूपमापः, उत्तररूपं भस्मेति, भस्मान्तम्। 'इद'मित्यङ्गुल्या निर्देशस्तुच्छताबुद्धेर्दार्ढ्याय

भवति । शरीरमित्यनात्मतोक्ता- शीर्यत इदम् । आत्मा चेन्नैवं स्यात्, "अशीर्यो न हि शीर्यतेऽव्यथो न हि व्यथते" इति । एतेन भस्मान्तत्व कथनेनात्र पृथिव्यंशोऽपि स्मारितः । एतच्चतुष्टयमेव विकारोयमिति । +

शमदमादिसम्पत्सहितेन गुरूप"सत्तिः कार्येति, गुरुमुपसद्य किं कार्यमिति दर्शयति- ' ॐ क्रतो स्मर ' । सोमद्रव्यात्मको यागः क्रतुः । सततं कर्मानुष्ठानेन कर्मसात्म्यं प्राप्तः क्रतुत्वेन व्यपदिश्यते । हे कर्मात्मन् गुरो ! स्मर । ममेति प्रसङ्गात्, 'अस्यैवं गतिरिति मद्विषयकं स्मरणं कुरु' इति प्रार्थना ह्युपसत्ति-द्योतिका ।

'ॐ' इति ब्रह्मभावनया ब्रह्मसात्म्यं प्राप्तो ब्रह्मवाचकत्वेन व्यवह्रियते हे ब्रह्मात्मन् ! । विशेषणद्वयेन गुरौ श्रोत्रियता, ब्रह्मनिष्ठता च व्याख्याता । तथाचात्रागमो भवति- "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्रह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति । समित्पाणितां द्योतयितुं विज्ञापनान्तरमनुवदति- 'कृतं स्मर' । समिदादिभिर्यन्मया कृतं कर्म तत्स्मर-कर्मानुष्ठानेन योग्यता मयि जाता न वेति चिन्तय, तथा फलमुखाधिकारो ममास्ति न वेति च चिन्तय, इति द्योतयितुं प्रार्थनान्तरमनुवादमाह-क्लृप्तं स्मर इति । मम ब्रह्मानन्दभोगे यत्सामर्थ्यं तद् भविष्यति नवेति तदर्थं चिन्तयेत्यर्थः । कल्पनं क्लृप्, 'क्लृपू' सामर्थ्ये इति । अथवा भवतां वृत्त-विचिकित्साऽस्ति मे? तथा चात्रागमः- "यथा ते तत्र वर्तेरँस्तथा तत्र वर्तेथाः" इति, तदर्थं कृतं स्मर, भवता यत्कृतं तत्स्मर, 'येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' इति ।

तेन गुरूपसत्तिद्वारा स्वतन्त्रज्ञान मार्गे कर्मसात्म्यं,ब्रह्मसात्म्यमित्येतदुभयं फलमितिनिर्देशात्साधनानामनुमातव्यम् । एवंभूतं विद्ययाऽमृत मश्नुत इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

भक्त्यङ्गज्ञानमार्गे यत्साधनं तन्निर्दिशति—

**"अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव ! वयुनानि विद्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम" ॥ १८ ॥**

---

+ अत एवात्राकाशनिर्देशाभावः ।

अग्निः सर्वेषां कर्मणां भस्मसात्कारी ब्रह्माग्निः । हे अग्ने ! ब्रह्मन् सुपथा नय । "दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति" इतिश्रुतावद्दूरं ब्रह्म विपथः । तेन नयने न रायःप्राप्तिः । रमण-साधनं भोग्यं वस्तु वाराः । "सोऽश्नुते सर्वान् कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते"तिश्रुतौ ये सर्वे कामास्त एव रायः । जातविदमेकत्वं, रासु तदर्थमेव नय । भक्तिमार्गे तदेवाशास्यमन्यत्सर्व मुपेद्यं ब्रह्मभूतस्यैव परभक्तिप्राप्तेः । परमभक्तस्यैव च सर्वकामप्राप्तेरिति ज्ञानफलस्य ब्रह्माग्नेरग्रे रसजनकत्व-स्वाभाव्यात्प्रार्थना । 'अग्नेराप' इति श्रुतौ सामान्यतो निर्देशेन तथात्वम् । एतच्च भक्त्यङ्गत्व एवोपपद्यते । अत एवाहुराचार्याः— 'ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' इति ज्ञानमार्गस्य सुपथित्वं श्रुतिविरुद्धम् ।

अग्ने ! इत्यनेन सद्रूपता द्योतिता, सन्नेव हि पूज्यो भवति । आनन्दरूपतामाह 'देव' इति सम्बोधनेन । दीव्यतिरत्र मोदकर्मा,तेनानन्दरूपः। "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" इत्यागमो भवति । तस्य सर्वज्ञतामाह- 'सर्वाणि वयुनानि विद्वान्'-इति सर्वाणि कर्माणि जानासि, इति नयनप्रकारमपि जानासि । अप्रतिहता ज्ञानशक्तिरुक्ता ।

अथ ज्ञाने रूक्षताभावाय भक्ति-संस्पर्शमाह- दैन्यदर्शनेन-'युयोध्यस्म ज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम' इति । ज्ञाने सत्यपि जुहुराणमेनो नापगच्छति । 'वस्त्रं दहति यो वह्निः स न वस्त्रस्य शोधक" इति ज्ञानाग्नि-र्दाहको न शोधकः । शोधिका तु भक्तिरेवेति । जुहुराणमेनो हि- कुटिल-मेनः, अस्मत्तो युयोधि ।

भक्तिमार्गे कुटुम्बं चेद्भजनानुकूलं तदा त्याज्यं न भवति * इति स्वस्याहन्ता येषु विभक्ता स्ते सर्वे हि- अस्मच्छब्दव्यपदेश्या इत्यत एव बहुवचनम् । तद्यथा मिश्रितभावं न याति तथा पृथक् कुरु, इति स्वापराध-निवेदनम्, भक्तिमार्गे चैतदवश्यं कर्तव्यम् ।

अथ सुपथा नयने मम कश्चिदुपकारः कर्तव्य इतिचेन्न, मया नमस्कारातिरिक्तं किञ्च न कर्तव्यमिति बोधयितुमाह— 'भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम' । ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुतमां नम उक्तिं विधेम । वागग्नेः रूपान्तर मिति- वाक् त्रिधा, तात्पर्यवृत्त्या बोधिता बहुर्भवति, लक्षणया बोधिता

---

* तथा च शास्त्रार्थ-निबन्धे :- सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनाऽपि हि, ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहमेव विशिष्यते- इति श्रीमदाचार्यः,

बहुतरा भवति, वाच्यवृत्या बोधिता भूयिष्ठा भवति । तथाभूतां नम उक्तिं वचनमात्रं विधेम- करवाम । छान्दसत्वाच्छ्लोरभावः, यास इयादेशश्च । ब्रह्मसन्तोषार्थं स्त्रीत्वेन व्यपदेशः, स्त्रियो हि व्याधस्याप्यनुकम्प्या भवन्तीति * 'ब्रह्मणि जीवैर्नमनमेव कर्तव्यं नाधिकं कर्तुं शक्य' मिति सिद्धान्तो बोधितः ।

अत्राप्यागमो भवति—

**"नमस्कृत्य यवीयांसमुपचरन्ति, शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावतः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः" इति ।**

आचार्या अप्येवमाहुः— 'भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण-साधन' मिति । तथाच भक्त्यङ्गज्ञानमार्गे ब्रह्म साधनं, परमभक्तिः फलमिति भावः ।

एतेन भक्तिमार्गात्सर्वे मार्गा हीनाः, भक्तिमार्गफलादन्ययोः फलस्य-हीनत्वात् । एतयोः फले उत्कर्षताप्रापको यः स एवोत्तमः, तेनैव जीवानां परमश्रेयः । स एवान्याभ्यां साधनतः फलतः स्वरूपतोऽधिकारतश्चोत्तमः । तदाश्रयेण परं ब्रह्म सुलभमिति परमश्रेयोऽभीप्सता । स एव समास्थेयः ।

तदेतदाहु राचार्याः—

'सर्वं ब्रह्मात्मकं पश्यन् कर्म चापि समाचरन् ।
पञ्चकर्म-विधानेन पोढाऽपि प्रकटः सदा ॥
निबन्धेन फलत्वेष न च भक्त्या यथा तथा ।
प्रेम्णोऽन्यत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्' ॥ इति

—):o:-(—

वाचः पुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्य-चरणाब्जयोः ।
निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु क्षुद्रके मयि ॥ २६ ॥
यत्कृपालवमाश्रित्य प्रवृत्तोऽहं महोद्यमे ॥
पारं सुगं प्रयास्यामि तं वन्दे वल्लभं हरेः ॥ २७ ॥

---

* तथा च भागवते—व्याधस्याप्यनु कम्प्यानां

ब्रह्म-निश्वासभूतानां वेदानां मर्मवित्प्रभोः ॥
श्रीमद्वल्लभवागीशादृते नान्योऽस्ति कश्चन ॥ २८ ॥
अत्र धार्ष्ट्यं समालम्ब्योत्पथेन विहितं मया ॥
व्याख्यानमिदमुद्वृत्तं तत्क्षमन्तां विदो गुणैः ॥ २९ ॥
अन्योपायेन यदपि विदां तोषो न शक्यते ॥
मया कर्तुमथाप्येतद् दृष्ट्वा हास्येन सेत्स्यति ॥ ३० ॥
इत्येवं मनसि ध्यात्वा कृतोऽयं क्षुद्र उद्यमः ॥
मया स्वस्यार्थ-विदुषा विदुषां सेवकेन हि ॥ ३१ ॥
अत्र यद् दूषणं किञ्चिज्जीव-बुद्ध्या भविष्यति ।
तदुद्धारे सन्त एव शक्ताः कृष्णात्मका यतः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्य-वंशोदधि-चन्द्र विद्याविलासि श्रीमन्नाथद्वाराधिपतिश्रीमद्गोवर्द्धनाचार्यचरणाश्रितपोतुकूर्चि श्रीबालकृष्णशास्त्रिणा संकलिता ईशावास्योपनिषद्-व्याख्या 'मनस्विनी' समाख्या समाप्त

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

॥ शुभम् ॥

# ईशावास्योपनिषन्मन्त्रानुक्रमणिका

—)-:(०):-(—



| संख्या | मन्त्राः | अनुक्रमः | पत्रम् |
|---|---|---|---|
| १ | अग्ने नय सुपथा राये० ... ... ... | १८ | ४० |
| २ | अनेजदेकं मनसो जवीयो० ... ... | ४ | १४ |
| ३ | अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यां० ... ... | ९ | २८ |
| ४ | अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिं०... ... | १२ | ३३ |
| ५ | अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहु० ... ... | १३ | ३४ |
| ६ | अन्यदेवाहु विंद्याया अन्यदाहु० ... ... | १० | ३१ |
| ७ | असुर्या नाम ते लोका अन्धेन० ... ... | ३ | ११ |
| ८ | ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित्० ... ... | १ | ६ |
| ९ | कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषे० ... ... | २ | ९ |
| १० | तदेजति तन्नैजति तद्दूरे०... ... ... | ५ | १७ |
| ११ | पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य० ... ... | १६ | ३७ |
| १२ | यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मत्वेन० ... ... | ६ | २० |
| १३ | यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत्०... ... | ७ | २२ |
| १४ | वायुरनिलममृतमथेदं० ... ... ... | १७ | ३९ |
| १५ | विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेद० ... ... | ११ | ३२ |
| १६ | स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्० ... ... | ८ | २४ |
| १७ | सम्भूतिञ्चविनाशञ्च यस्तद्वेद० ... ... | १४ | ३५ |
| १८ | हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं०... ... | १५ | ३६ |

# समुद्धृत श्रुत्यादीनामनुक्रमणिका

## अ


| | | | |
|---|---|---|---|
| अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य० | ... | ... | ( सर्वनि. १० ) |
| अक्षरं ब्रह्म परमं० | ... | ... | ( कारिका * ८ ) |
| अग्निहोत्रमपश्यत् | ... | ... | ... |
| अग्नेरापः० ... | ... | ... | ( तै. उ. २–१ ) |
| अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्० | ... | ... | ( श्वेता उ. २–१५ ) |
| अष्टाभिरत्र सकलं० | ... | ... | ( कारिका १४ ) |
| अतोऽस्मि लोके वेदे च० | ... | ... | ( गीता १५–१८ ) |
| अत्र धाष्टर्यं समालम्ब्य० | ... | ... | ( कारिका २६ ) |
| अत्र यद्दूषणं किञ्चित्० | ... | ... | ( ,, ३२ ) |
| अथ मर्त्योऽमृतो भवति० | ... | ... | ( कठ. उ. २-६-१४ ) |
| अथैतयोः पथोर्न कतरेण० | ... | ... | ( छा. उ. ५-१०-८ ) |
| अनन्ता वै वेदाः ... | ... | ... | ( तैत्ति. आ. ) |
| अन्योपायेन यदपि विदां० | ... | ... | ( कारिका ३० ) |
| अपरेयमितस्त्वन्यां० | ... | ... | ( गीता ७ – ५ ) |
| अपाणिपादो जवनो० | ... | ... | ( श्वेता. उ. ३–१९ ) |
| अप्राप्य मनसा सह० | ... | ... | ( तै. उ. २-४-१ ) |
| अभयं सत्वसंशुद्धिः० | ... | ... | ( गीता. १६-१ ) |
| अयं हि परमो धर्मो० | ... | ... | ( याज्ञव. १–८ ) |
| अर्वाग्वै देवा अस्य० | ... | ... | ... ... |
| अविनाशी वारेऽयमात्मा० | ... | ... | ... ... |
| अव्यक्ता हि गतिर्दुःखम्० | ... | ... | ( गीता. १२-५ ) |
| अशीर्यो नहि शीर्यते | ... | ... | ( ) |
| अस्यैवानन्दस्यान्यानि० | ... | ... | ( बृह. ४–३–३२ ) |
| अहं हि सर्वयज्ञानाम्० | ... | ... | ( गीता. ९–२४ ) |


---

* कारिकाशब्देन ग्रन्थकर्तुः कारिकाः ज्ञेयाः ।

## आ.


आकाशस्तल्लिङ्गात्० ... ... ( ब्रह्मसू. १-१-२१ )
आकाशे तिष्ठन्० .... ... ( बृह. उ. ३-७-१२ )
आकाशो ह वै नामरूपयो० ... ... ( छा. उ. ८-१०-१ )
आत्मत एवेदं सर्वम् ... ... ( छा. उ. ७-२५-२ )
आत्मन आकाशः संभूत० ... ... ( तै. उ. २-१ )
आत्मनि तिष्ठन्० ... ... ( बृह. उ. )
आत्मा वा इदमेवाग्र आसीत्० ... ... ( एत. उ. १-१ )
आत्मा ह्येषां संभवति० ... .... ( )
आद्यावन्ते च मध्ये च० .... .... ( भाग. ११-१९-१६ )
आनन्दरूपममृतं यद्० ... ... ( मुण्ड. उ. २-२-७ )
आसुरीं योनिमापन्नाः० ... ... ( गीता. १६-२० )


## इ.


इति ह्याभ्यां विनिर्णीतम्० ... ... ( कारिका २५ )
इत्येवं मनसि ध्यात्वा० ... .... ( ,, ३१ )
इमाः प्रजा अहरहः० ... ... ( छा. उ. ८-३-२ )
इमाँ ल्लोकानीशत ईशनीभिः० .... ... ( श्वेता. उ. ३-२ )
इष्टान् भोगान्हि वो देवाः० ... .... ( गीता. ३-१२ )


## उ.


उपासते पुरुषं ये ह्यकामाः० .... .... ( मुण्ड. उ. ३-२-१ )


## ऋ.


ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्० ... ... ( श्वेता. उ. ४-८ )
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य० .... ... ( कठ. उ. १-३-१ )

## ए.


एको बहूनां यो विदधाति० .... ... ( कठ. उ. २-५-१३ )
एको हंसो भुवनस्यास्य० .... ... ( श्वेता. उ. ६-१५ )
एतस्यैवानन्दस्यान्यानि० .... ( अस्यैवा० ) ( बृह. ४-३-३२ )
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं० ... ... ( गीता. १८-६ )
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु० ... ... ( मुण्डक. उ. १-२-५ )
एवं स देवो भगवान् वरेण्यः ... ... ( श्वेता. उ. ५-४ )
एष आत्मा अपहतपाप्मा० ... ... ( छां. उ. ८-७-१ )
एष उ एव वामनीः० ... ... ( छा. उ. ४-१५-३ )
एष पन्था एतत्कर्म .... ... ( )
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता० ... .. ( प्रश्न उ. ४-९ )
एह्येहीति तमाहुतयः० . ... ( मुण्ड. उ. १-२-६ )


## ओ.


ओंतत्सदिति निर्देशो .... ... ( गीता १७-२३ )


## क.


क उत्तम श्लोक गुणानुवादात्० .... ... . ( भाग. १०-१-४ )
कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा० ... .... ( शास्त्रार्थनि. १७ )
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते० ... ... ( भाग. ११-३-४४ )
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः० ... ... ( श्वेता. उ. ६-११ )
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ... ... ( ईशा. ३ ८ )
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान० .... ... ( कठ. उ. २-४-१ )
काण्डद्वयात्मका वेदा० ... .... ( कारिका ७ )
कायेन मनसा बुद्ध्या० .. .... ( गीता. ५-११ )
क्लेशोधिकतरस्तेषां० ... .... ( गीता. १२-५ )
को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्० ... ... ( तै. २-७-१ )
क्षुरस्य धारा निशिता० ... ... ( कठ. १-३-१४ )

### ग.

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं० .... ... ( गीता. १५-५ )
गुणानेतानतीत्यत्रीन् ... ... ... ( गीता. १४-२० )

### च.

चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः ... --- ( जैमिनीयसू. १-१-२ )

### ज.

जन्तो वै कस्यचिद् हेतोः० .. ... ( भाग. ११-२२-३८ )
जलं तदुद्भवैश्छन्न० ... ... ( ,, )
जहात्येनां भुक्तभोगाम् ० ... ... ( श्वेता. उ. ४-५ )
ज्ञानमार्गो त्वेतदेव सेव्यं० ... .... ( सर्वनि. १०४ )
ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ० .... .. ( सर्वनि. ४ )
ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं० ... ( शास्त्रार्थ नि. १४ )
ज्यायानाकाशात् ज्यायान् ... ... ( छा. उ. ३-१४-३ )

### त.

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य० ... .... ( भाग. ११-२६-२७ )
ततःसंसार दुःखस्य० ... ... ( सिद्धान्तमु. २ )
तत्रेतिनिर्णयः श्लोकैः ... .. ( कारिका २० )
तत्रापि पुरुषार्थत्वं .. ... ... ( ,, २२ )
तथेह वै तदिष्टापूर्तैःकृत० .... .... ( )
तदिदमप्येतर्हि य एवं० .... ... ( )
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवा० ... ... ( मुण्ड. उ. १-२-१२ )
तद्विद्धि प्रणिपातेन परि० ... ... ( गीता. ४-३४ )
तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं० . .... ( कठ. उ. २-५-१४ )
तदेवाग्निस्तदादित्यः० ... .. ( श्वेता. उ. ४-२ )
तं देवतानां परमं च दैवतं० ... ... ( श्वेता. उ. ६-७ )
तं देवाश्चक्रिरे धर्मं० ... ... ( )

| | | | |
|---|---|---|---|
| तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु | ... | ... | ( मुण्डक. उ. १-२-१ ) |
| तदैक्षत० .... ... | .... | .... | ( छा. ६-२-३ ) |
| तद्य एवैतं ब्रह्मलोके० | ... | ... | ( ) |
| तद्यथेह कर्मचितोलोकः० | ... | ... | ( छा. उ. ८-१-६ ) |
| तद्यथेह पुण्यचितो लोकः० | | | |
| तद्वागमृतशेषेण० | ... | ... | ( कारिका ) |
| तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति० | ... | | ( कठ. उ. २-५-१३ ) |
| तमीशानं वरदं देवं० | ... | ... | ( श्वेता. उ. ४-११ ) |
| तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा० | ... | ... | ( ) |
| तमेवं विद्वानमृत इह० | ... | ... | ( पुरुषसूक्त ) |
| तमेव विदित्वा अति० | ... | ... | ( श्वेता. उ. ६-१५ ) |
| तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति० | | ... | ( श्वेता. उ. ४-६ ) |
| तरति शोकमात्मवित् | ... | ... | ( छा. उ. ७-१-३ ) |
| तस्मादसक्तः सततं० | ... | ... | ( गीता ३-१९ ) |
| तस्माद्वा एतस्मादन्यो० | ... | ... | ( तैति. उ. २-५ ) |
| तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यतः० | ... | ... | ( ) |
| तस्य ह वेदाश्च नाभूत्वा० | | | ( ) |
| तितिक्षवः कारुणिकाः | ... | ... | ( भा. तृ. २५-२१ ) |
| तुच्छं फलं यतस्तेषां | .... | ... | ( कारिका ) |
| तेषामहं समुद्धर्ता० | ... | ... | ( गीता १२-७ ) |
| तेषामेवैषः ब्रह्मलोकः० | .... | ... | ( ) |
| तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो० | ... | .... | ( छा. उ. ८-१-६ ) |


## द.


| | | | |
|---|---|---|---|
| दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या० | ... | ... | ( सर्वनिर्णय ३१७ ) |
| दानव्रत तपोहोम जप० | .... | ... | ( भाग ) |
| दुःखाभावः सुखश्चैव० | ... | .... | ( सर्वनि. १६ ) |
| दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति० | .. | | ( कठ. १-३-१४ ) |
| द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् | ... | ... | ( ब्रह्म. १-३-१ ) |

## ध.


धर्मस्य तत्वजिज्ञासा ... ... ( भाग. )
धर्मःस्वनुष्ठितः पुसां० ... ... ( भाग. १-२-८ )
धर्मावहं पापनुदं भगेशं० ... ( श्वेता. उ. ६-६ )
धाष्ट्र्यं मदीयं क्षन्तव्यं .. ( कारिका )
ध्यानादिभिर्यथामूर्तेः० .. ( सर्वनि. १५ )


-:—:]:o:[:—:-

## न.


नचास्य कश्चिज्जनिता० ... ... ( श्वेता. उ. ६-९ )
न तत्फले स्वार्थबुद्धिः० ... ... ( कारिका )
न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम० .. ... ( )
न नरेणावरेण प्रोक्त० ... .... ( कठ. उ. १-२-८ )
नमस्कृत्य यवीयांसं० ... ... ( )
न वा अरे पत्युः कामाय० ... ... ( बृह. उ. ४-५-६ )
न संदृशे तिष्ठति रूप० .... ( श्वेता. उ. ४-२० कठ. उ. २-६-९ )
नहि विकृतिं त्यजन्ति० ... ... ( भाग. द. ८७-२६ )
नह्यत्यायन्पूर्वे येह्यत्यायँस्ते परा० ... ... ( )
नायमात्मा प्रवचनेन० ... .... ( मुण्ड. उ. ३-२-३ )
नायमात्मा बलहीनेन० ... ... ( ,, ३-२-४ )
नाविरतो दुश्चरितात्० ... .... ( कठ. उ. १-२-२३ )
ना सदासीन्नो सदासीत्० ... .... ( तै. ब्रा. २-८-९-३ )
नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन० ... ... ( गीता. ११-५३ )
नित्योनित्यानां चेतनः० ... ... ( कठ. २-५-१३ )
निर्बन्धेन फलत्येष० ... ... ( सर्वनि. ३२४ )
निर्मानमोहाजितसंग० ... ... ( गीता. १५-५ )
निरूप्यमष्टादशधा० ... ... ( कारिका )
नृदेहमाद्यं सुलभं० .... ... ( भाग. ११-२०-१७ )
नैषातर्केणमतिरपनेया ... .... ( कठ. उ. १-२-९ )

## प.

पतिंपतीनां परमं परस्मात्० ... ... ( श्वेता. उ. ६-७ )
परं ब्रह्मैतद्यो धारयति० ... ... ( )
परास्य शक्ति र्विविधैव० ... .... ( श्वेता. उ. ६-८ )
परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् .... ... ( मुण्ड. उ. १-२-१२)
परीत्य सर्वान् विदिशो दिशश्च .. ... ( नारा. उ. ४ )
प्रजापतिः सप्तदशो ... ... ( कारिका )
प्रमेयमष्टादशभिः ... ... ( कारिका )
प्रवर्तते यत्र रजस्तमश्च .... ... ( भाग. )
प्रवृतिं च निवृतिं च जना न . ... ( गीता. १६-७ )
प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपाः ... ... ( मुण्. उ. १-२-७ )
प्रासादे सा दिशि दिशि च० ... ... ( )
पूर्णमदःपूर्णमिदम्० .... ... (ईशा. उ. शान्तिपाठ.)
पूर्वं पञ्चविधास्तस्य० ... ... ( कारिका )
पूष्णोहस्ताभ्याम्० ... ... ( पुरुषसूक्त )
प्रेम्णोन्यत्साधनं लोके ... ... ( सर्वनि. ३२६ )

## फ.

फलमत उपपत्तेः० .... ... ( ब्रह्म ३-२-३८ )
फलश्रुतिरियं नृणां० ... . ... ( भाग.

## ब.

ब्रह्मत्वाद् ब्रह्मणत्वाश्च ब्रह्म० ... ... ( )
ब्रह्मज्ञानस्य तल्लेप ... ( कारिका )
ब्रह्मणि जीवैर्नमनमेव० — .... (शास्त्रार्थनि. १ प्रकाश )
( भगवति )
ब्रह्मनिश्वासभूतानां ... ... ( कारिका )
ब्रह्मभूयाय कल्पते ... ... ( गीता १४-२६ )
ब्रह्मविदाप्नोति परं० ... ... ( तैत्तिरीयो. १-६-६)

ब्रह्माहमस्मि .... ... .... ( नारा. उ. १५ )
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति० ... ... ( बृह० ४-४-६ )
ब्रह्मोपकण्ठे जीवस्य० ... ... ( कारिक )
वुद्धिश्चायुश्च पोषाणां० ... ... ( )

भ

भक्तानां दैन्यमेवैकं० ... ( सुबो० दशम० २६ अ० कारिका २ )
भक्तावत्यादरेणैव० ... ... ( सर्वनि. ३१३ )
भक्त्या त्वनन्यया शक्य० ... ... ( गीता. ११-५४ )
भक्त्या मामभिजानाति० ... ... ( ,, १८-५५ )
भक्ति मार्गे हि सेव्योऽयं० .... .... ( कारिका )
भक्त्यैव परम श्रेयः ... ... ( कारिका )
भक्तिर्हि सर्ववेदार्थः० ... ... ( कारिका )
भयादस्याग्निस्तपति० ... ... ( कठ. उ. २-६-३ )
भिद्यते हृदय ग्रन्थिः० ... ... ( मुण्ड. उ. २-२-८ )
भीष्मोहिदेवः सहसः सहीयान्० ... ... ( भाग )
भूमिरापोनलोवायुः० ... ... ( गीता. ७-४ )
भूमैव सुखं नाल्पे० .... .... ( छा. उ. ७-२३ )

म

मनसोऽयं मनो विदुः०
मनस्विनीमुपनिषद्० .... ... ( कारिका )
मामप्राप्यैव कौन्तेय० ... .... ( गीता. १६-२० )
मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात् ... ( ब्रह्म. १-३-२ )
मोघमेते विन्दते अप्रचेताः ... ... ( )

य

य एवं वेद प्रति तिष्ठति ... .... ( तैत्तिरी. उ. ३-६ )
य एतस्मिन्नभयं प्रतिष्ठां० ... ... ( )

यःसर्वाणि भूतानि अन्तरो० .... ... ( बृह. उ. ३-७-१५)
यत्कपालवमाश्रित्य० ... .. ( कारिका )
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र० ... ... ( गीता. ३-६ )
यतो वाचो निवर्तन्ते० ... ... ( तै. उ. २-४-१ )
यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा० ... ... ( तै. उ. १-११-४ )
यथा नद्यःस्यन्दमाना० .... ... (मण्डूक. उ. ३-२-८)
यथेमा नद्यः० ... ... ( प्रश्न. उ. ६-५ )
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति ... .. ( भाग० )
यदात्मतत्त्वेन ब्रह्मात्म० ... ... ( श्वेता. उ. २-१५ )
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः० ... ... ( बृहदा. ४-४-७)
,, ,, प्रलीयन्ते ,, ... ... ( कठ. २-६-१४ )
यद्धि पश्यन्ति मुनयो० ... .... ( भाग. )
यदेव विद्यया करोति श्रद्धया० ( )
यत्र चैवात्मनात्मानं० ... ... ( गी० ६-२० )
यत्रोपरमते चित्तं० ... ... ( गी० ६-२० )
यत्र दुःखेन संभिन्नं न च० ... ... ( सर्वनि. ५ )
यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं० ... ... ( मुण्ड. उ. २-२-५ )
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे० ... .. ( कठ. उ. १-२-२५ )
यस्यै देवतायै हवि गृहीतं० ( )
यामिषुं गिरिशंत हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ... ( श्वेता उ. ३-६ )
युक्तस्य तु विनिर्धारः० .... ... ( कारिका )
येतु सर्वाणि कर्माणि० .... ... ( गीता १२-६ )
येन केनाप्युपायेन मनः० ... ... ( भाग० )
येनावृतं विश्वमिदं हि० ... ... ( )
योगिनो यत चित्तस्य .... ... ( गीता. ६-१६ )
योविज्ञानमन्तरो यमयति० ... ... ( बृह. उ. ३-७-२२
यो वै भवति यो वै श्रेष्ठतां० ... ... ( )


## र.


रज सत्वं तमश्चैव तमःसत्वं० ... ... गीता. १४-८

रसोवै सः रसं ह्येवायं० ... ( तै. उ. २-७ )
[illegible]पावसादो नितरां ... .... ( कारिका )

### व.

वज्रं दहति या वह्निः, स न० ... ... ( )
वाचः पुष्पाञ्जलिः श्रीमद्० ... .... ( कारिका )
वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता० ... ... ( )
वायोरग्निः० ... .... ... ( तै. उ. २-१ )
विकार हेतौ सति विक्रीयन्ते० .... ... ( )
विज्ञाने तिष्ठन् ... ... ... ( बृह. उ. ३-७-२२ )
विश्व कर्मा विमना आद्वि० ... ... ( )
विश्वमिदं विचष्टे० ... ... ( )
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं० .... ... ( श्वेता. उ. ३-७ )
वेत्ति यत्र न चैवायं० .... ... ( गीता. ६-२१ )
वेदान्ते च स्मृतौब्रह्म लिङ्गं० ... ... ( शास्त्रा. नि. ६ )
वैराग्यं सांख्ययोगौ च० ... ... ( शास्त्रा. नि. ४७ )

### श

शतं मे घ्नन्ति पापानि ... ... ( )
श्येनेनाभिचरन् यजेत० ... ... ( )
श्रीकृष्णं परमानन्दं० ... ... ( कारिका )

### ष

षष्ठ्या व्याश्रये ... ... ( अष्टा. ५-४-४८ )

### स

स इदं सर्वं भवति० ... ... ( )
स एव काले भुवनस्य गोप्ता० ... ... ( श्वेता. उ. ४-१५ )
स एव नेति नेतीत्यात्मा० ... ... ( )

सगुणां नवधा भक्तिं० .... ... ( कारिका )
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म० ... ... ( तै. उ. २-१ )
सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोन्वेष्टव्यः ... ( छा. उ. ८-५-१ )
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष० ... .... ( मुण्ड. उ. ३-१-५)
सन्तोन पेक्षा मच्चित्ताः० ... ... ( भाग. ११-२६-२७)
स मन्त्रमपश्यत् ... ... ( )
सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञान० ... ... ( मुण्ड. उ. ३-२-५ )
स यं एतमेवमुपास्ते० ... ... ( छा. उ. ४-१२-२ )
सर्वं तं परादाद्योन्यत्रा० ... .... ( )
सर्वमात्मेत्युपासीत ... .... (छा. उ. ७-२६-२ )
सर्वं ब्रह्मात्मकं पश्यन्० ... ... ( सर्वनि. नि. ३२४)
सर्वं ह पश्यः पश्यति० .... ... ( छा. उ. ७-२६-२ )
सर्वथा चेद्धरि कृपा० .... ... ( )
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति० .... .... ( कठ. उ. १-२-१५ )
सहो, वाच गार्ग्यो य ... ... ( छा. उ. )
संचुक्रोपान्तकाले० ... ... ( श्वेता. उ. ३-२ )
स्मरणेन क्रियाः सर्वाः० ... ... ( )
स्वर्गः सत्वगुणोदयः ... ... ( सर्वनि० ७ )
स्वतन्त्रकर्ममार्गस्य ... ... ( कारिका )
स्वतन्त्रे ज्ञानमार्गेतु ... ... ( ,, )
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ... ... ( श्वे. उ. ६-११ )
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्० ... ... ( गीता. ६-२१ )
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा ... ... ( भाग० )
सोश्नुते सर्वान् कामान् ... .... ( तै. उ. २-१ )
सोऽहमस्मि ... ... ( )

## ह

हासाय विदुषां चापि .... ... ( कारिक )

——:o:——

# शुद्धि-पत्रकम्

—*ॐ*—

| पत्रम् | पंक्तिः | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|---|---|---|---|
| १ | १५ | यया भवेत् ॥ ५ ॥ | यया भवेत् ॥ |
| | १७ | ब्रह्मणो यया ॥ | ब्रह्मणो यया ॥ ५ ॥ |
| २ | १३ | तयोरङ्ग-धर्मो | तयोरङ्ग धर्मो |
| ३ | ४ | " तदिदमप्ये तर्हि | " तदिदमप्येतर्हि |
| | ८ | रसं ँ ह्येवायं | रस ँ ह्येवायं |
| | १६ | इत्याद्युक्त्य । | इत्याद्युक्त्वा- |
| | २१ | तयाऽप्रधानो | तया प्रधानो |
| ५ | ६ | यदा | यथा |
| | १४ | पुरुषार्थताश्च | पुरुषार्थताश्च |
| ६ | १४ | भुञ्जीथा | भुञ्जीथा |
| ७ | १८ | जगद्भर्भ | जगद्गर्भ |
| ७ | २७ | ब्रहत्वाद् ब्रह्मण | बृहत्वाद् बृंहण |
| ८ | ८ | अतश्च ( ? ) | अतश्च |
| | १४ | ईशोच्छिष्ट । भोगस्य | ईशोच्छिष्ट-भोगस्य |
| | १८ | मीशा-सेवने | मीशा-सेवने |
| ९ | १४ | पत्यान्यपि | एतान्यपि |
| १० | १६ | विधते | विधत्ते |
| ११ | २७ | भवन् | भवत् |
| १२ | २१ | विषयतामाहवक्तृ-श्रोतृ | विषयतामाह । वक्तृ-श्रोतृ |
| | २३ | रूपाया : । स्मृते | रूपायाः स्मृते |
| १३ | २ | वेषिणः | वेशिणः |
| १४ | ४ | तस्मिमन्नपो | तस्मिन्नपो |
| १५ | ४ | ( वीयर्म् ) | ( वीर्यम् ) |
| | १२ | बिमृत्यु | विमृत्यु |
| | २५ | माप्येव | मास्येव |

| पत्रम् | पंक्तिः | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|---|---|---|---|
| | २६ | रस ह्येवाऽय | रसं ह्येवाऽय |
| १६ | ५ | ···द्दितिगति | ···दिति गति- |
| १७ | ७ | भक्त्या | भक्ता |
| | १४ | चलते | चलति |
| | ८ | अष्टदशोक | अष्टादशोक |
| | १७ | वर्णा | वर्णाः |
| | १८ | स्वशब्रात् " | स्वशब्दात्" |
| | ६ | ब्रह्मण | बृंहण |
| | २० | शुभ्रोयं | शुभोयं |
| १५ | १२ | कार्याब्दहिरपि | कार्याद् बहिरपि |
| १६ | १८ | न्यात् | न्यायात् |
| | २८ | वेदैर्न | वेदैर्न |
| | २५ | अहमेव | अहमेवं |
| २० | १३ | ननेरणा | ननरेणा |
| | १४ | स्त्यणीयो | स्त्यणीयाम् |
| | २१ | कित्सत | कित्सति |
| | २२ | " | " |
| | २४ | च्छुत्वा | च्छ्रुत्वा |
| २२ | १७ | न तु निःस्वभावाः | न तु निःस्वभावाः [देहमनःप्राण जीवादयः] ? |
| २३ | ६ | यमेकत्वं | यम् । एकत्वं |
| | १६ | विद्द्याम | विद्वाषाम |
| | १७ | वेदऽइदं | वेद इदं |
| २४ | १५ | अणंकाल· | अणं काल- |
| | २० | अन्तकरण | अन्तःकरण |
| | २६ | प्रगट | प्रकट |
| | २७ | नन्दात्मकं | नन्दात्मकं, |
| २६ | ६ | स्पृष्टा | स्प्रष्टा |
| २७ | २१ | ब्रह्म ज्ञान | ब्रह्म-ज्ञान । |

Philos.



| पत्रम् | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|---|---|---|---|
| २८ | १६ | विद्या | विद्या |
| २६ | ३ | शिष्टत्वात्कर्मा. | शिष्टत्वात्। कर्मा. |
| | ४ | इति न व्यप | इति व्यप. |
| ३१ | २८ | भ्रान्ति | भ्रान्ति |
| ३२ | १७ | ब्रह्मानन्द- | (तथा)-ब्रह्मानन्द- |
| | २४ | चाविद्यांश्च | चाविद्याश्च |
| ३५ | १६ | तीत्वा | तीर्त्वा |
| ३३ | ९ | । सह इति | सः । हेति । |
| | १६ | प्राप्त्यसम्वा | प्राप्त्यासम्वा |
| ३६ | १६ | स्य पिहितं | स्यापिहितं |
| | ४ | दाहक ब्रह्म | दाहकं ब्रह्म । |
| | १८ | क्लृपं | क्लृपं [ क्रियेे ] |
| ३७ | ७ | माह त्व 'मिति' | माह - 'त्व' मिति |
| | २१ | प्रजापत्य | प्राजापत्य |
| ३८ | ६ | संचकोचा | संचुकोपान्त |
| ३६ | ६ | श्च्छुलोके | ष्च्छुलोके |
| ४० | ५ | गुरूप " सक्तिः | गुरूपसक्तिः |
| | १२ | ब्रह्मणो | ब्राह्मणो |
| | १३ | समत्पाणिः | समित्पाणि. |
| ४१ | ४ | वाराः | त्राराः |
| | ५ | एवं | एव |
| | २६ | वह | वहु |
| ४२ | २ | च्लछो | कछुलो । |
| | १५ | ऽभीप्सत । स | ऽभीप्सता स । |
| | १६ | निवन्धेन | निर्वन्धेन |
| ४४ | १५ | त्मत्वेन | त्मन्येवा |
| ,, | १६ | वेषा | वे. |
| ,, | २० | वेद | वे. |